प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, १४ डी फ़ीरोज़शाह रोड, नई दिल्ली।
नवीन प्रेस, दिल्ली।

मूल्य २)

सूची

आमुख

उस दिन की बात है। मेरे एक मित्र ने, जो स्वयं एक नाटककार हैं, मुझ से कहा कि इन्सान के खँडहर यह टाइटल प्रगतिशील नहीं— इंसान को खँडहर के रूप में देखना पराजयवादी मनोवृत्ति का द्योतक है।

मैं अपने मित्र से सहमत न हो सका। इंसान के खँडहर का यह अर्थ नहीं कि पूरी मानवता का ढाँचा ही मुझे खँडहर नज़र आता है। मगर यह मैं जरूर देखता हूँ कि इस ढाँचे में कई चलते-फिरते खँडहर हैं जिनकी यदि अन्दर और बाहर से मरम्मत न की जा सके, तो उन्हें मिटा देने के सिवा कोई चारा नहीं। मेरा संकेत इन्हीं खँडहरों की ओर है। कई खँडहर अपने पुरानेपन की वजह से जर्जर हालत में हैं, और ऐसे नजर आते हैं। दूसरे वे खँडहर भी हैं जिनकी नींव और कलेवर गला हुआ है, पर जिन पर ताजा रोगन की इतनी मोटी तहें हैं कि इन्हें पहिचानना कठिन है। हमें इन सब खँडहरों को टटोलना और जरूरत हुई तो ढाना है।

इस संग्रह की कहानियाँ कुछ ऐसे ही खँडहरों को और उनकी आत्माओं को पास से देखती हैं। इन खँडहरों में अभिजातवर्ग की छटपटाती हुई आत्मा भी है, और मध्यम वर्ग की घुटी हुई चेतना भी। मेरा अब तक का सारा जीवन इन्हीं खँडहरों में बीता है।

मुझे लगता है कि मैंने आज तक जितनी कहानियाँ लिखी हैं, उससे कहीं अधिक—बल्कि कई गुना अधिक—कहानियाँ नष्ट की हैं।

जीवन के हर पहर में और हर पहलू में कहानियाँ मेरे सामने आती रही हैं। अमृतसर की मण्डियों में जो अपने-अपने सौदे की गंध से बेहोश रहती हैं, लाहौर के होटलों में जहाँ रंगीन उत्तेजना का व्यापार हुआ करता था, राजपूताने के मछलीमारों में जो रेत में से थिरकती हुई जवान मछलियों का शिकार किया करते हैं, बम्बई के महासागर में जहाँ कलम की स्याही सुनहरी होने लगती है, दिल्ली के यावूस्तान में जहाँ हर आँख का रंग एक नजर आता है और जालंधर की वीरान धूल में जहाँ केवल मक्खियाँ ही आजादी के साथ उड़ती हैं, मुझे कई तरह की कहानियाँ मिलीं, पर खेद है कि मैं उन सब कहानियों को लिख नहीं सका। बहुत सी कहानियाँ तो रोटी के साथ खा ली गईं, और कुछ कोरी असावधानी के कारण बिखर गईं। अब, जब मैं यह सोचता हूँ तो मुझे खेद होता है।

× × ×

कई-कई चेहरों में देखने के लिये बहुत कुछ होता है, पर फिर भी नपर कहानी नहीं लिखी जाती। मेरे नाना के चेहरे पर इतनी रियाँ हैं, और हर झुर्री की करवट में इतना विषाद है कि मैं मजबूर कर घण्टों उनके बारे में सोचता रहता हूँ। पर अपने नाना की खाल छिपे हुए विषाद को लेकर मुझ से एक भी कहानी नहीं लिखी [illegible]। इस तरह कई चरित्र, कई भाव और कई अवस्थाएँ हैं, जिन्होंने मुझे प्रभावित किया है। मैं अभी तक इस आशा से हूँ कि मैं उन सब पर कहानियाँ लिखूँगा।

× × ×

कहानियाँ लिखने के सिलसिले में कभी-कभी बड़ी दिलचस्प बातें हो जाती हैं।

दिल्ली यूनीवर्सिटी की एक छात्रा है जिसका जीवन किसी मोड़ पर अचानक मेरे एक मित्र के जीवन से टकरा गया था, और जिसने साहस-पूर्वक अपने पति को छोड़कर टॉलस्टॉय की 'अन्ना करेनिना' की तरह कुछ दिन मेरे मित्र के सहवास में बिताये थे। अपने पहले (और एक मात्र) परिचय के दिन ही जब मैंने उससे कहा कि मैं उसके चरित्र को एक कहानी में बुन रहा हूँ, तो वह सहसा चौंक उठी और बोली, जी मैं भी कोई कहानी का विषय हूँ ?

और जब मैंने यह स्पष्ट किया कि अपने साधारणतर साहस के कारण वह सचमुच ही एक अच्छी कहानी का विषय बन गई है, और मुझे उससे कुछ बातें जाननी हैं, तो वह मुस्कराकर बोली कि अभी कुछ महीने तो वह इतनी व्यस्त है कि उसके पास जरा भी अवकाश नहीं, उसके बाद हो सका तो वह कहानी लिखने में मेरी सहायता करेगी। फिर कुछ देर सोचकर वह बोली 'देखिये, आप किसी और पर ही लिख डालिये। मैं अपने ऊपर कहानी नहीं लिखवा सकूँगी।'

इसी तरह अपने एक मित्र से जब मैंने कहा कि अमुक कहानी में मैंने उसका चरित्रचित्रण किया है, तो वह गम्भीरतापूर्वक मुस्कराकर चुप रहा। कुछ दिन बाद उसने मुझे अपने घर खाने पर बुलाया और खाना खिला चुकने के बाद नरवणात्मक ढंग से बतलाया कि मेरे निमन्त्रण का कारण यह है कि वह मुझे एक और कहानी का प्लॉट देना चाहता है।

इसके बाद अपनी सफेद मुर्गी के संबंध में लिखते हुए मैंने थोड़ी देर के लिये रुककर सोचा था कि कहीं यह भी तो पंख फैलाकर या एक टाँग उठाकर मुझ से नहीं कहेगी लो एक कहानी हमारे अण्डे पर भी लिखो।

× × ×

मुझे बहुत सी बातों पर असंतोष है। यह असंतोष न केवल उस वातावरण में है, जिसमें मैं पला हूँ, बल्कि अपने में भी है जो पलकर

ऐसा हो गया हूँ। मुझे उन साहित्यिक साथियों से भी असंतोष है जो आज जिस रूप में हैं, अपने उस रूप को स्वीकार नहीं करना चाहते। जिस किसी भी माध्यम से (बिना उस माध्यम का उद्देश्य देखे) पैसा कमाकर जिस किसी भी ढंग से (बिना उसका परिणाम सोचे) खर्च करना, और केवल नारे मात्र के लिये एक उद्देश्य को सामने रखना यह लगन नहीं फैशन है। इस फ़ैशन ने कइयों को अपनी चकाचौंध में खींचा है। मगर यदि इसे कोरा फैशन नहीं रहना तो जन-जीवन के साथ ईमानदारी करने से पहले हमें अपने-आपके साथ ईमानदार होना चाहिये। कोरी शब्दों की बाजीगरी काफी नहीं।

इस संग्रह की कहानियाँ भाषा और शैली के कुछ प्रयोग हैं। कहानियों में कोई सूत्र है तो वह है मेरा मानसिक असन्तोष। परिस्थितियों के अनुसार जीवन तेजी के साथ नया रूप लेता जा रहा है। कहानियाँ भी उसी तेजी के साथ बदलती जा रही हैं।

बिशप कॉटन स्कूल
शिमला
२०. ५ ५०

मोहन राकेश

इन्सान के खण्डहर

सड़क की बत्तियाँ बुझ गईं।

बरफ के कारखाने का भोंपू भोंडे स्वर में प्रातः की चेतावनी देकर चुप हो गया।

अभी पहला कौआ भी नहीं बोला था, कि किला भंगियाँ के चौराहे पर तिल कूटने वालों का शब्द अपने निश्चित स्वर ताल में गूँजने लगा—हियँ अ-अ ! हियँ अ-अ ! हियँ ! अ-अ !

छः गठे हुए गंदमी शरीर, उन की उभरी हुई पेशियाँ और चमकती हुई त्वचाएँ, हाथों में उठते और गिरते हुए मूसल, बीच में कुटते हुए तिलों का अम्बार—ये सब और चारों ओर की घुटी हुई हवा, सारा वातावरण ही बोल रहा था— हियँ अ-अ ! हियँ अ-अ !

और तिलों का अम्बार पसीज रहा था। वह कूटने वालों को रोटी देगा। आधी चाहे सूखी, चने की या छिलके की। रोटी उन्हें शक्ति देगी। शक्ति पा कर वे फिर अन्नदाता को कूटेंगे। अन्नदाता उन्हें फिर रोटी देगा। वे उसे फिर कूटेंगे और सिलसिला चलता रहेगा।

इधर सड़क पर लेटा हुआ साँड, जिसकी जीविका भक्तों द्वारा खिलाये गये ग्रासों से चलती थी, और जिसे इसके लिये सवेरे-शाम समय नगदी तक के घरों के आगे से गुज़रने का कष्ट करना होता था, धीरे से अपनी टांगों पर खड़ा हुआ, और पूँछ हिला कर तैयार हो गया।

तभी एक हरि कीर्त्तन करता हुआ वृद्ध गण्टान वाले बाज़ार की तरफ़ से आया। गोपुत्र को कान हिलाते देखकर उसने उसे प्रणाम किया। फिर बिना तिल कूटने वालों की ओर देखे, बिना उनकी जाँघों की मछलियाँ लक्षित किये, खाँसता, थूकता, खकारता और साँस आने पर हरिकीर्तन करता बाबा बांके बिहारी के मदिर में चला गया।

उस सँकरी गली से, जिसका कोई नाम नहीं, और जिसकी नालियों की बदबू बाबा बाँके बिहारी के मदिर के धूप गुग्गुल की गध में मिल कर एक नया संगम बनाया करती है, एक स्याही रगे कपड़े वाली प्रौढ़ा, अपनी हरे दोपट्टे वाली कन्या के साथ निकली। दोनों नंगे पैर वहाँ से गुज़रीं जहाँ एक अन्नदाता छिल रहा था, पिट रहा था और प्रसन्न हो रहा था। प्रौढ़ा ने देखा तो छ हिलते हुए शरीर थे, और पसीना ही पसीना था। उसे घृणा हुई। युवती ने देखा तो युवा लहू चिकनी देहों से टपक रहा था। उसे सिहरन हुई। माँ-बेटी जल्दी-जल्दी बाबा बाँके बिहारी के मदिर में चली गईं।

शहर अमृतसर रात की नींद से जाग रहा था।

हलवाई सत्तू की दुकान अभी आधी खुली थी। उसका नौकर नगीना, अपनी स्लेट जैसी कमीज़ से, जो जब सिली, तब सफेद थी, और जब उसे मिली तब भूरी गदमी या ठीक-ठीक उस विशेष रंग की जो इन्सान की मैल और बू से तैयार होता है, रात की मँजी हुई ~,~ को मटके के पानी से धो-धोकर पोंछ रहा था। राख मिला पानी लकड़ी के गले हुए फट्टे पर से फिसल कर धार के या बिंदुओं के रूप में गिरता हुआ उस बेंच को भिगो रहा था, जो सड़क पर ग्राहकों की सेवा और सुविधा के लिये रखी गई थी।

हलवाई के सामने की दूकान का भोलूशाह, दस दिन की उगी हुई सफ़ेद दाढ़ी के नीचे पिचके हुए झुर्रीदार गालों का फैला धन, घण्टा भर चबाई हुई दातुन से अन्दर गले तक झाग निकाल रहा

चेष्टा में व्याकुल होकर, ज़ोर-ज़ोर से उबकार रहा था—आडक्‌ ! आडक्‌ ! आडक्‌ !

आडक्‌ आडक्‌ आडक्‌ में वह गले छाती और आसन का ज़ोर लगा रहा था। उसका बाप भी इसी तरह करता था। बाप का बाप भी इसी तरह करता था। अमृतसर वह शहर है जहाँ दातुन करने की ही नहीं, थूकने खुजलाने की भी विशेष शैली है और उस शैली का उस शहर जितना ही पुराना इतिहास है।

भोलूशाह के मुख से लार निकल रहा था, और सड़क पर झाड़ू देते हुए भंगी द्वारा उड़ाई गई धूल उसके नासा-रध्रों में जा रही थी। फिर भी भोलूशाह एकचित्त होकर जिह्वा और तालु का व्यायाम किये जा रहा था। उसकी कला केवल कला के लिये थी।

धूल भोलूशाह के समय खाये शरीर को आच्छादित करके आगे बढ़ी, और भक्तों के उस समुदाय में पहुँच गई जो मंगला दर्शन के उद्देश्य से बाबा बाँके बिहारी के मंदिर की दहलीज़ के पास जमा हो रहा था। वृद्ध का शरीर मारे खाँसी के दोहरा हो गया। हरे दोपट्टे वाली युवती ने मुँह एक ओर हटा कर धूल से बचने की चेष्टा की। उधर से उसे वृद्ध के मुखामृत का छींटा मिला। उसने मुँह दोपट्टे में छिपा लिया।

उधर सामने के कुएँ की चर्खी पर एक लाल लँगोट वाले की गागर ने उषा का पहला राग छेड़ दिया।

पर अभी भगवान्‌ के दर्शन खुलने में देर थी। भगवान्‌ के पुजारी गोस्वामी नृसिंहदत्त ने छत की पिछली कोठरी में शरीर से कम्बल उतारा ही था। अस्त-व्यस्त अँगोछे को, जो सोने के समय उसका एकमात्र परिधान था, कस कर कमर में लपेटते हुए उसने मंगला का पहला मंत्र पढ़ा 'चेतू, कहाँ मरा है रे ?'

चेतू, जो नीचे लंगोट लगाए, और ऊपर खादी की कमीज़ पहने साथ की कोठरी की दीवार के सहारे ऊँघ रहा था, गुरु की कर्कश

आवाज़ सुनते ही अपने आपको झटक कर चैतन्य हो गया, और झुक-झुक कर संस्कृत व्याकरण का पाठ करने लगा—'इको यणचि, इको यणचि . .'

'इधर आ रे इको यणचि के यण्!' गोस्वामी नृसिंहदत्त के मन्त्र पूरा किया, 'हुक्का भर जल्दी से।'

बारह साल का चेतू तत्परता से उठ पड़ा। उस मंदिर में रहते कई महीने हो चुके थे। वह पुजारी की गालियों से ही नहीं, उसकी मार से भी पूरी तरह परिचित था। गोस्वामी जब भी कोई धमकी देता, तब चेतू के दिमाग में एक भँवर सा घूमने लगता। उसके मन में तो आता था कि गोस्वामी की नाक को पकड़ कर इतना खींचे कि गोस्वामी का गणेश बन जाय, पर उसका साहस नहीं पड़ता था, क्योंकि गोस्वामी उसे रोटी देता था, कपड़ा देता था, और सब से बड़ी चीज़ विद्या देता था। रात को गोस्वामी उसे बड़ी रुचि के साथ अलंकार पढ़ाया करता था, और हाथ से आकार बना-बना कर उसे बतलाया करता था कि इतने-इतने स्तनों वाली नारी को 'श्यामा' कहते हैं, और इतने-इतने स्तनों वाली नारी को 'पद्मिनी' कहते हैं। चेतू अभ्यास के तौर पर मंदिर में आने वाली युवतियों के वक्षों की ओर देखा करता था कि उनमें से कौन-सी 'श्यामा' है और कौन-सी 'पद्मिनी'। फिर वह कापी पर उन स्तनों की तस्वीरें बनाया करता था।

चेतू, जिसका असली नाम चेतनराम था, मोगा तहसील के एक छोटे से गाँव का रहने-वाला था। कुछ महीने पहले तक वह सतलज के किनारे खड़ा होकर उस पार से आने वाले कबूतरों के झुण्डों को देखा करता था। उसे गहरे पानी की हल्की-हल्की लहरों पर मेघों की घनी छायाएँ बहुत भली लगा करती थीं। पर उसके चाचा ने एक दिन 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' उसके हाथ में देकर उसे शास्त्री प्रीतम दास के पास पढ़ाई के लिये अमृतसर भेज दिया। यहाँ आकर उसने जो दुनिया देखी, उसमें कबूतर बिजली के तारों पर बैठे रहते थे, और

बादल कभी आ भी जाते, तो पक्की छतों के ऊपर गरज बरस कर और काले हाथों को भिगो कर चले जाते थे। हाँ, गाँव में वह केवल रात को ही 'हीर' और 'माहिया' के गीत सुना करता था, पर यहाँ दोपहर को भी, जब लाला लोग भल्ले, पकौड़ी और तले हुए बेसन के साथ रोटी खाकर विश्राम के लिये लेटते थे, तो चारों ओर से रेडियो पर 'दर्द भरे फसाने' सुनाई दिया करते थे।

चेतू ने जब तक हुक्का भर कर गोस्वामी को दिया, तब तक शास्त्री प्रीतमदेव की आँख भी खुल चुकी थी। शास्त्री प्रीतम देव का मंदिर में वही स्थान था, जो घरों में उस पुराने बर्तन का होता है, जिसमें कई साल तक पानी पिया जा चुका हो, और जिसकी सतह में अब जगह-जगह सूराख हो गये हों। उसने लगातार बारह साल तक मंदिर में रह कर ज्योतिष और मीमांसा का अध्ययन किया था, और उसका सारा ज्ञान अब केवल इसी काम आता था कि वह दोनों समय ठाकुर जी के सामने शंख और घंटी बजाया करे।

गोस्वामी हुक्का गुटगुटाता और विष्णु सहस्र नाम का पाठ करता हुआ अपनी कोठरी से बाहर निकला। उसे आते देखकर शास्त्री प्रीतमदेव भी धीरे धीरे गुनगुनाने लगा—

'जय हनुमान् ज्ञान गुण सागर।
जय कपीश तिहुँ लोक उजागर॥'

गोस्वामी अपना पाठ अधूरा ही छोड़ कर, हुक्का ज़मीन पर टिकाते हुए शास्त्री प्रीतमदेव के नज़दीक आकर बैठ गया। उसके पास आ बैठने से शास्त्री की आवाज़ निकलनी बँद हो गई, केवल उसके होठों का हिलना जारी रहा।

मिनिट दो मिनिट चुप रह कर गोस्वामी ने मुलायम आत्मीयता भरे स्वर में पूछा, 'रात को कितने बजे आये थे ?'

शास्त्री के होंठ कुछ देर तक और भी चुपचाप हिलते रहे। पाठ पूरा करने के बहाने थोड़ा-सा अवकाश लेकर उसने हवा को माथा

नवाया, और गोस्वामी की घूरती हुई आँखों से आँखें बिना मिलाये उत्तर दिया, 'नौ बजे, गुरु जी!'

शास्त्री प्रीतमदेव गोस्वामी को 'गुरुजी' कहा करता था, क्योंकि चाहे किताबी विद्या उसने नागरमल विद्यालय में पाई थी, पर असली विद्या उसे भी गोस्वामी से ही मिली थी।

'दस ग्यारह बजे तक तो मैं ही जागता था।' गोस्वामी ने भोली आवाज़ में कहा, जिसका मतलब था कि जा, एक झूठ क्षमा किया और झूठ बोलने की चेष्टा मत करना।

'तो जरा देर हो गई होगी, गुरुजी!' अब भी उसने गोस्वामी से आँखें मिलाने का साँहस नहीं किया।

'रंगवाला सेठ बड़ा भगत आदमी है।' अब गोस्वामी असली बात पर आया, 'खिलाया-पिलाया तो उसका पूछना ही क्या है?'

और गोस्वामी ने उसे सीधी नज़रों से देखा। बात यह थी कि रात को रंगवाले सेठ किशनदास की लड़की का ब्याह था। जाना तो वहाँ गोस्वामी को स्वयं ही था, क्योंकि वह रंगवाले सेठों का कुलपुरोहित था, पर कल संध्या को उसके शरीर में हवा का दौरा हो गया था, जिसकी वजह से उसने अपनी जगह शास्त्री प्रीतमदेव को भेज दिया था। हवा के दौरे की वजह से ही उसे रात को ग्यारह बजे नींद की गोली खाकर सो जाना पड़ा था, नहीं तो वह ये सवाल-जवाब रात को ही कर चुका होता।

शास्त्री प्रीतमदेव अभी तक आँखें चुरा रहा था। उसने गोस्वामी के सवाल का छोटा-सा उत्तर दिया, 'बड़ा सुन्दर भोजन बना था, गुरुजी!' फिर उसने दरवाज़े की ओर देखते हुए कहा, 'गुरुजी, मंगला दर्शन कितनी देर तक खोलने हैं?'

'अरे, खुल जायेंगे मंगला दर्शन भी' गोस्वामी ने अधीरता को दबाने की चेष्टा करते हुए कहा, 'यह तो बताओ, सेठ ने दिया क्या-क्या है?'

शास्त्री प्रीतमदेव थोड़ा सा हिचकिचाया। परन्तु गोस्वामी की महातेज़ भरी आँखों ने उसे झूठ नहीं बोलने दिया। उसने होंठों पर ज़बान फेर कर कहा, 'इक्कीस रुपये ..'

'और ?' गोस्वामी ने उसकी हिचकिचाहट भाँपते हुए ऐसे पूछा, जैसे उसकी गालों पर थप्पड़ मारा हो।

'और ... ' शास्त्री ने शब्दों को ज़रा लम्बा करते हुए कहा, 'एक कपड़ा।'

'क्या कपड़ा ?'

'धो ... दोशाला।'

'और कुछ नहीं ?'

'नहीं।'

'उन्हूँ, कहाँ है ?'

'अभी ?'

'और कोई मुहूर्त निकलवाना है ?'

शास्त्री न चाहता हुआ भी उठा, और पिछले कोने में रखे हुए घिसे पुराने सन्दूक़ की घिसी पुरानी ताली को ठोंक बजा कर खोला, और सन्दूक़ के अन्दर से अपना अँगोछा निकाल कर माथे का पसीना पोंछा, फिर सन्दूक़ के अन्दर ही हाथों से कुछ करने लगा जब गोस्वामी उसके सिर पर आ खड़ा हुआ। गोस्वामी के सिर पर आ जाने से वह दोशाले की तह में रखी हुई धोती और धोती की तह में रखे हुए रेशमी रुमाल को नहीं छिपा सका।

'साले, झूठ बोलता था ?' गोस्वामी ने शास्त्री की खोपड़ी पर धौल जमाते हुए कहा, और कपड़े हाथ में लेकर बोला, 'रुपये भी निकाल।'

'रुपये भी क्या मेरे नहीं, गुरुजी ?' शास्त्री का नपुंसक साहस पहली बार बोला।

'तेरे नहीं, तेरे ... और इस वाक्य को अधूरा ही छोड़ कर गोस्वामी

आगे बोला, 'तू रंगवाले सेठों का जमाई है न ! वे बेचारे भगवान् के जीव हैं, सो भगवान् के निमित्त दे देते हैं । तू साले, रोज़ भगवान् के घर में नारंगियां केले खाता है, दूध-दही भक्षण करता है, फिर भी तेरी तृष्णा नहीं मरती ? यहां अब देने-वाले कितने रहे हैं ? जो आता है, मुख से ही भगवान् के दर्शन करके चला जाता है । ला निकाल, रुपये कहाँ हैं ?

शास्त्री प्रीतमदेव ने सन्दूक में रखे हुए अपने एकमात्र कोट की जेब में हाथ डालते हुए कहा, 'दो रुपये तो मुझ से गुरुजी ख़र्च हो गये ।'

'ख़र्च हो गये ? कहाँ ख़र्च हो गये ?' गोस्वामी ने एकदम तेज़ होकर पूछा ।

शास्त्री ने जेब से उन्नीस रुपये दो आने निकाल कर गोस्वामी की ओर बढ़ा दिये, और ज़मीन की ओर देखते हुए कहा, 'सिनीमा चला गया था ।'

'सिनीमा चला गया था !' गोस्वामी ने रुपये पकड़ते हुए मुँह बना कर कहा, और उसकी खोपड़ी पर एक और धाज जमा कर दोहराया, 'सिनीमा चला गया था ।'

गोस्वामी अब अपनी कोठरी की ओर जाने के लिये मुड़ा, तो ...ी ने पीछे से दीन स्वर में कहा, मेरे पास एक भी धोती नहीं है, गुरुजी !'

'यह जो पहने हुए है, यह धोती नहीं है ?' गोस्वामी ने उसे कुत्ते की तरह दुतकारा ।

'यह तो बिलकुल फट रही है, गुरुजी ! यह आज वाली नहीं तो वह पारो वाली ही दे दीजिये ।'

गोस्वामी रुक गया । पारो का नाम लेकर शास्त्री ने जैसे उसे चेतावनी दे दी थी कि एक धोती दे दो, हाँ वर्ना .

'कौन-सी पारो वाली धोती ?' गोस्वामी ने फीकी होती हुई उग्रता के साथ पूछा।

शास्त्री की नाभि के पास से मुस्कराहट उठी जिससे उसकी छाती फूल गई, पर उसका गला इतना खुश्क हो रहा था कि मुस्कराहट होठों तक नहीं आ सकी।

'पता नहीं, उस दिन पारो कहती थी ' वह बोला।

'क्या कहती थी तुम से पारो ?'

शास्त्री को गोस्वामी का फीकापन देखकर फिर मज़ा आया। पर मज़े का स्वाद उसके होठों पर नहीं फैला, उसकी आँखों में रह गया।

'कहती थी वह मेरे लिये एक धोती लाई थी, पर आपने वह पहले रख ली, इसलिये '

'तो वह रांड तेरे साथ भी । और यह 'भी' कहकर गोस्वामी ने अनुभव किया कि उसने लीद कर दी है। बिना बात बढ़ाये उसने हाथ की धोती शास्त्री को दे दी और कहा, 'तुझे धोती चाहिये, सो ले ले। पारो ठगनी की बातों का तू विश्वास मत किया कर।'

धोती लेकर शास्त्री के मन में इतना आनन्द उमड़ा कि विभोर होकर फटे हुए स्वर में गाने लगा—'प्रभु जी मोरे अवगुन चित्त न धरो।'

नीचे मंदिर की दहलीज़ के पास भक्तों की भीड़ काफ़ी बड़ी हो गई थी। बहुत-से धोती कुर्ते और पगड़ी वाले सज्जन थे, कुछ धोती और दुपट्टे वाली देवियाँ, दो-एक तिल्ले किनारे की साड़ी वाली नई ब्याहताएँ, दो-एक खुले पायजामे और काली गोल टोपी वाले नौजवान, एक खुली शिखा वाला ब्रह्मचारी, एक सोने के बटनों वाला पहलवान, और आठ-दस—'भगवान् के अपने ही रूप'—नन्हें-नन्हें बच्चे।

बाहर सड़क पर अख़बार बेचने वाले चिल्ला रहे थे—मिलाप, प्रताप, ट्रिब्यून अख़बार, अजीत पढ़िये, वीरभारत—ताज़ी ताज़ी ख़बरें।

'अमरीका में हाइड्रोजन बम बनने शुरू हो गये।'

'सरहिन्द के नज़दीक गाड़ी उलट गई।'

'पाकिस्तान ने लड़कर कश्मीर लेने की धमकी दे दी।'

और मन्दिर के बाहर सत्तू हलवाई की दूकान के आगे लस्सी पीने वालों का समूह लस्सी के साथ-साथ खत की बातों का मज़ा ले रहा था। सत्तू रंगवाले सेठ बिशनदास से कह रहा था, जिसकी लड़की का कल रात ही ब्याह हुआ था, और जो इस समय मोटे होंठों से लस्सी अन्दर खींच रहा था, और मन्दिर के अन्दर जाने वाली हर आकृति को घूर रहा था, 'रौनकें देख रहे हो, लाला जी? देखो, नमो, बाहर से ही भगवान् के दर्शन करो। भगवान् कोई न कोई फल ज़रूर देंगे।'

बिशनदास को मुस्कराते छोड़कर सत्तू ठिगने क़द के मुनीम गुराँदित्ता मल को लक्षित करके बोला, 'लाला गुराँदित्ताजी! दूर क्यों खड़े हो? इधर आओ बादशाहो! आज बीबी ने कितनी लस्सी पीने को कहा है? आध सेर की, या तीनपाव की।

और गुराँदित्तामल को खीसें निपोरते छोड़कर वह मोटे मोहनलाल से बोला, 'क्यों मोहनलालजी? मछलियाँ गिन रहे हो भगवान् के ...ाब की? कितनी हैं? तुम जाल फेंकोगे, तो उसे तो मगरमच्छ ही जाएँगे। अरे यार, कुछ तो भगवान् की शरम करो। इधर आओ लस्सी पियो।'

सामने भोलूशाह किटकिट रेवड़ियाँ काट रहा था। उसके साथ का नत्थू पसारी मिर्चें कूट रहा था। चौराहे की दूकान पर तिल कूटने वाले उसी तरह तिल कूट रहे थे।

नत्थू पसारी मिर्चों की गंध से दो-एक बार छींका। भोलूशाह ने चाकू से अपनी उँगली काट ली। लाला बिशनदास लस्सी का गिलास आधा पीकर और आधा दुम हिलाती हुई बिल्ली के लिये छोड़कर

जल्दी जल्दी बाबा बाँकेबिहारी के मन्दिर में चला गया, क्योंकि दो सुन्दर लड़कियाँ उसी समय अन्दर जा रही थीं।

मुनीम गुराँदित्तामल भी जल्दी-जल्दी लस्सी गले में उँढेलने लगा, क्योंकि उसकी धर्मपत्नी पारो घर से तैयार होकर आ गई थी, और पारो का आदेश था कि वह दोनों समय नहीं तो कम-से-कम एक समय ज़रूर ठाकुरजी के दर्शन किया करे, जिससे इस लोक की तरह परलोक म भी दोनों की जोड़ी बनी रहे।

जब लाला गुराँदित्तामल अपनी धर्मपत्नी के साथ मन्दिर के अन्दर चला गया, तो सत्तू और मोहनलाल एक दूसरे की आँखों में देखकर मुस्कराये।

'भगवान बड़ा कारसाज़ है।' सत्तू ने कहा। मोहनलाल ने पलकें झपक कर उसका अनुमोदन किया।

मोहनलाल भी चलने को हुआ तो सत्तू ने आवाज़ दबाकर कहा, 'शीशम का बाट्टा एक थान।'

मोहनलाल ने पलकें झपक कर स्वीकृति दी।

'भाव वही पिछला ही ?' सत्तू ने उसी तरह पूछा।

मोहनलाल ने फिर उसी तरह पलकें झपक कर स्वीकृति दी। फिर वह भी किसी तरह अपने शरीर को आगे धकेलता और काले गोरे व नीचे जटी हुई लाल लाल आँखों से नाक की सीध में देखता हुआ मन्दिर के अन्दर चला गया, क्योंकि पुजारी ने किवाड़ खोल दिये थे, और ठाकुरजी के जागने की घण्टी बजा दी थी।

(... १० जालधर)

एक आलोचना

चाय गरम है। धुआँ उठ रहा है। हलका-हलका और लच्छेदार। मेरी प्याली पर नटराज नाच रहा है। धुआँ उलझ गया नटराज विलीन हो गया। प्याली में नाग कन्या निकली। वह गई। वह एक नेता निकला। हाथ हिला कर व्याख्यान देने लगा। वह भी गया।

धुआँ बल खा रहा है। हवा में आकार बन रहे हैं—धुएँ का पहाड़, धुएँ का वृक्ष, धुएँ का बादल।

मेरे सामने नाश्ता रखा है। हाथ में कैलाश की पुस्तक है। पुस्तक का शीर्षक है। 'संघर्ष के सात वर्ष'।

पुस्तक में पहले बीस पृष्ठ की भूमिका है। उसके आगे सत्रह अध्याय हैं। पहले अध्याय का शीर्षक है हम गरीब हैं।

रामा बर्तन मलता है, वह गरीब है। रूपा पानी भरती है, दाल पीसती है, उपले थापती है, वह गरीब है। उसका नन्हा बिज्जू नग-धड़ंग कीचड़ में लोटता है, गइया के बदन से बदन रगड़ता है, पाँचों उँगलियाँ मुँह में चूसता हुआ अकाल नृत्य नाचता वह गरीब है।

मगर गरीबी के दावेदार महाशय कैलाश भी हैं, जो रेशमी खादी का कुर्ता पहन कर अमरीकन कट के सुनहरे चश्मे के पीछे से झाँकते हैं, अननास के रस से अपने दिमाग को तर रखते हैं, और रेशमी गद्दे पर बैठकर पार्कर ५१ के कलम से लिखते हैं हम गरीब हैं।

यह ठीक है कि महाशय कैलाश कभी गरीब थे। पर वह सात साल

पुरानी बात है। आजकल उनके जीवन का विकास मन्द चल रहा है। महाशय कैलाश शब्दों का व्यापार करते हैं। ठोस माल लेते हैं, आकाश चित्र बेचते हैं।

मेरी चाय की प्याली में से धुआँ कैनिवॉल बन कर निकल रहा है। कैनिवोल एक पुरुष में बदल रहा है। मुझे महाशय कैलाश का वह रूप याद आ रहा है, जिस रूप में मैंने उन्हें सात साल पहले देखा था।

एक धुँधली सन्ध्या थी। लगता था रात समय से पहले ही उतर आएगी। कैलाश अपनी पत्नी तारा का शवदाह करके थोड़ी देर पहले ही श्मशान से लौटे थे। उनके साँवले मुख पर पीड़ा उग्रता और ग्लान के भाव थे।

मैं पास बैठा लालटेन की रोशनी में दीवार पर बनती हुई छायाओं को देख रहा था। मटके की छाया का असुर बन रहा था, और छाते की छाया का अजगर। खिड़की के किवाड़ की छाया वामन के चरण की तरह तिरछी ऊपर की ओर जा रही थी। सामने की दीवार को एक बड़े गोलक ने घेर रखा था। यह मेरे सिर की छाया थी।

मुझे तारा की मृत्यु की सूचना अचानक ही मिली थी। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं उनसे किस तरह मृत्यु के सम्बन्ध में कोई बात पूछूँ। बहुत देर तक खामोश बैठे रहने के अनन्तर मैंने किसी तरह उनसे पूछा, 'भाई साहब, भाभी को हुआ क्या था, जो इस तरह अचानक उनकी मौत हो गई ?'

उनकी आँखें कुछ इस तरह से हिलीं जैसे उनका मन उन आँखों में से झाँक कर कहना चाहता हो कि यही सवाल तो मैं भी पूछता हूँ।

उनकी आँखों में यह भाव तार की एक झिलमिल से अधिक नहीं रहा। उनकी मुद्रा बदल गई और उन्होंने घायल स्वर में कहा, 'होना क्या था शैलेन, जीने वाली के प्राण निकल गए, मौत हो गई।'

'फिर भी, रोग क्या था ?' मैंने फिर पूछा।

'रोग यह था कि वह मनुष्य थी। उसका शरीर रक्त माँस और मज्जा से बना था। उसे भूख लगती थी।'

मैं चुप हो गया। कैलाश भी कुछ देर तक चुप रहे। फिर लालटेन की लौ की ओर देखते हुए अचानक उन्होंने मुझ से पूछा, 'शैतान, तुमने जंगल की आग देखी है?'

'नहीं।' मैंने उत्तर दिया।

'एक चिनगारी, अगर वह ठीक जगह जा लगे, तो मीलों में फैले हुए जंगल को जला देती है। पुराने सूखे जटाधारी पेड़ देखते-देखते खोखला हो जाते हैं।'

मैंने उनका खामोश समर्थन किया। उन्होंने नाखून से फटे हुए लिहाफ के अन्दर से रुई निकाल ली, और उसका गोला बनाते हुए बोले, 'हमारा समाज भी एक पुराना जंगल है। इसके जलने के दिन आ गये हैं, पर आग की चिनगारी अभी ठीक जगह नहीं लग रही। मुझे खेद उन लोगों के लिये है जो कच्ची लताओं की तरह पुराने पेड़ों से लिपटे हुए हैं। वे डरपोक कायर और नपुंसक सबसे पहले स्वाहा होंगे।'

उधर चारपाई पर नन्हा लाली रो उठा, जिसे तारा पीछे छोड़ गई थी। उसे भूख लग आई थी। माँ की बीमारी में भी उसे शायद ठीक समय पर दूध नहीं मिला था, जिसकी वजह से उसका शरीर सूख कर हड्डियों की एक मुट रह गया था, जिस पर मांस एक हल्के छिलके जितना ही था। लाली की आँखें तारा की आँखों से मिलती थीं। बाकी चेहरा कैलाश पर था। कैलाश उठे, और उसे गोदी में लेकर पुचकारने लगे। मैंने भी पास जाकर बच्चे के सिर पर हाथ फेरा। मुझे उसके बाल खरगोश की तरह ठंडे और मुलायम लगे।

'संघर्ष के सात वर्ष' की कहानी तारा की मौत के दिन से ही शुरू होती है। इन सात सालों में कैलाश अब महाशय कैलाश बन गये हैं। उन्होंने चार पुस्तकें पहले भी लिखी हैं। 'नई दुनिया और नई

चेतना', 'हमारी समस्याएँ', 'धरती रो रही है' और 'वे जो इंसान नहीं।' पहली पुस्तक के बाद ही लाहौर के महापुरुषों ने—अर्थात जूते, कपड़े, लोहे और लकड़ी के उन व्यापारियों ने जिन्हें राष्ट्र की चिंता थी, कैलाश के नये लहू को अपने मंच पर जगह दे दी थी, और शेष पुस्तकें उन्होंने उसी मंडल की प्रेरणा से लिखी थीं। उस मंडल में रह कर उन्होंने जल्दी ही सीख लिया था कि इस दुनिया का एक ही देवता है और वह है अवसर, और उस देवता की उपासना का ढंग है —गीत गाना, फूल चढ़ाना, और देवता के कंधों पर सवार होकर अपनी ही आरती उतारना।

'संघर्ष के सात वर्ष' महाशय कैलाश की पाँचवीं पुस्तक है। इस पुस्तक को प्रकाशित हुए अभी दो ही महीने हुए हैं। संघर्ष के सातवें वर्ष में महाशय कैलाश के जीवन में कितनी ही महत्व पूर्ण घटनाएँ हुई हैं। पहली घटना थी, उनकी रेणु से मुलाकात। यह उन दिनों की बात है जिन दिनों देश के आर्थिक संकट का हल निकालने के लिये सरकार ने अर्थ शास्त्र के पंडितों का सम्मेलन बुलाया था।

एक जगमगाते हुए पंडाल में महाशय कैलाश ने आर्थिक संकट पर भाषण दिया। बोल कर वे मंच से उतरे ही थे कि एक युवती उनके पास आई, और उसने उनसे कापी में हस्ताक्षर देने के लिये कहा। फिर वह आर्थिक संकट पर बातचीत करती हुई उन्हें अपने साथ एक होटल में ले गई। होटल में महाशय कैलाश की पनपती हुई कीर्ति ने उसे कुछ समझाया। सुन्दरी रेणु के सौंदर्य ने कुछ समझा। इससे दोनों में प्रेम हो गया। कुछ दिन के बाद महाशय कैलाश ने रेणु से विवाह कर लिया।

रेणु की सुन्दरता से मिल कर महाशय कैलाश की योग्यता और भी निखर आई। सभ्य मंडलियों में इस जोड़ी की शिष्टता और प्रतिभा का बखान होने लगा। जल्दी ही महाशय कैलाश को एक न्याम मिशन पर विदेश भेजने के लिये चुन लिया गया।

विदेश जाने से पहले महाशय कैलाश ने अपने परिचितों और मित्रों को चाय पर बुलाया। मुझे इस अवसर पर दोहरा निमन्त्रण मिला। एक तो व्यक्ति रूप में, और दूसरे 'भारतीय जीवन' के सम्पादक के रूप में।

चाय पर कोई सौ के लगभग व्यक्ति बुलाये गये थे। साज सामान और वेशभूषा में खादी और रेशम का सुन्दर सम्मिश्रण था, जो बतला रहा था कि इन सब लोगों की मञ्जिल एक है, और खादी और रेशम उस तक पहुँचने के दो अलग-अलग रास्ते हैं।

वहाँ काफ़ी चहल-पहल थी। रेणु अपने हाथों से लोगों की प्यालियाँ भर रही थी। ग्रामोफोन पर रिकॉर्ड बजाये जा रहे थे। कैलाश दूधिया खादी पहने थे, और रेणु दूधिया ज्यॉर्जेट। प्रेस के फोटोग्राफर ने दोनों को पोज़ देकर उनकी फोटो उतारी। एक मित्र ने कविता पढ़नी शुरू की जिसके तुकान्त थे—'प्यार हो', 'हार हो,' और 'अधिकार हो।'

उसी समय कैलाश मेरे पास आये, और मेरे कंधे को छू कर बोले, 'क्या सोच रहे हो ?'

'सोच कुछ नहीं रहा, केवल देख रहा हूँ।' मैंने कहा।

'दो मिनिट के लिये ज़रा साथ के कमरे में चलो।

और कैलाश, मैं, और नारंगी रस के दो गिलास साथ के कमरे में चले गये। वहाँ अपनी घूमने वाली कुर्सी पर बैठ कर उन्होंने पूछा, ''मेरी नई पुस्तक देखी है ?''

'नहीं। कौन-सी लिखी है ?' मैंने पूछा।

'संघर्ष के सात वर्ष।'

और पुस्तक की एक प्रति शेल्फ से निकाल कर उन्होंने मेरे हाथ में दे दी। फिर बोले, 'यह पुस्तक मेरे सात साल के अनुभवों का निचोड़ है।' कह कर उन्होंने नारंगी रस का एक घूँट भरा और फिर बोले, 'तुमने पिछले महीने की आधुनिक आलोचना देखी है ?'

'नहीं।' मैंने कहा।

उसमें इसकी आलोचना निकली है। उसने तो इसे एक हृदय की आत्म कथा कहा है।'

'पुस्तक देखने में भी बहुत आकर्षक लगती है।' मैंने कवर के छायापुरुष पर हाथ फेरते हुए कहा।

कैलाश 'आधुनिक आलोचना' का वह अंक ढूँढने लगे। मैंने पुस्तक का कवर पलटा। सामने लिखा देखा—अपनी ही आत्मा प्रिय रेणु को।

पुस्तक के साथ-साथ संघर्ष के सात वर्ष भी समर्पित—यह मेरे मन ने कहा।

कैलाश को आधुनिक आलोचना नहीं मिला था। वे इलायची छीलते हुए बोले, 'संघर्ष' की यह प्रति तुम्हारे लिये है। हो सके तो इसपर अपनी पत्रिका में कुछ पंक्तियाँ लिख डालना। और यदि झंझट न करना हो तो मैं ही लिखवा कर भेज दूँगा।'

मैंने आँख भर कर उनकी ओर देखा। ढूँढना चाहा कि वह आग कहाँ है जो कभी जंगल जलाने की बात करती थी। मुझे अनुभव हुआ कि वह आग उनके पेट में चली गई है। उस आग में ऊपर से आहुतियाँ जा रही हैं और महाअश्वमेध यज्ञ हो रहा है।

'आलोचना मैं लिख दूँगा।' मैंने पुस्तक के पन्ने पलटते हुए कहा। उन्होंने इलायची आगे की। मैंने मना कर दिया।

वे दूसरे शेल्फ की ओर जाकर आधुनिक आलोचना का अंक ढूँढने लगे। मैं पुस्तक की भूमिका पढ़ने लगा। शुरू शुरू की पंक्तियाँ थीं—

'जब मैं पीछे मुड़ कर देखता हूँ, तो सब से पहले मुझे वह घर याद आता है, जिस की छत में चूहों ने सूराख कर रखे थे, जिस की खिड़कियों के किवाड़ टूटे हुए थे, और जिसकी दरारों में से बिच्छू और केंचुए फिर निकला करते थे ... '

मुझे पल भर के लिये लगा कि मैं उसी घर में हूँ, तारा आज ही मरी है, नन्हा लाली दूध के लिये रो रहा है और मेरी उँगलियाँ खरगोश के नरम-नरम बालों में से गुज़र रही हैं।

'लाली आज कल यहीं है ?' मैंने सहसा पुस्तक पर से आँखें हटाकर पूछा।

'तुम्हें लाली का पता नहीं ?' उन्होंने ऐसे ठण्डे लहजे में कहा कि मुझे मात का याद हो आई। मैंने प्रश्न भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा।

'उसे गुज़रे एक साल हो गया।' उन्होंने कुछ ऐसा भाव बनाया कि यह संसार ही नश्वर है, इसमें कोई भला क्या करे ?

मेरे हाथों में से खरगोश निकल गया।

संघर्ष के सात वर्ष—वह एक हृदय की आत्म कथा मेरे हाथों में भारी हो गई।

'हुआ क्या था, जो इतनी-सी आयु में बेचारे का देहान्त हो गया ?'

ठीक ऐसा ही प्रश्न सात साल पहले भी, तारा की मृत्यु के दिन मैंने उनसे पूछा था। उस दिन उन्होंने जो उत्तर दिया था, वह मुझे उस समय तक याद था। आज भी याद है। मगर उस समय मेरा सवाल सुनकर वे कुछ देर तक खामोश रहे। टेबल लैंप के हरे शेड में मुझे उनका चेहरा तराशे हुए पत्थर के बुत जैसा लगा। आखिर उनके होंठ हिले और उनमें से ठण्डे-ठण्डे शब्द निकले, 'ईश्वर की इच्छा ही समझो। और क्या कारण कह सकते हैं ?'

मेरी आँखें नारंगी रस के गिलास से टकरा कर लौट आईं। याद आया कि नारंगी का रस अन्दर जा कर लहू बनता है। लहू आदमी की रगों में दौड़ता है। जो उनके बुतनुमा शरीर के अन्दर दौड़ रहा है, वह यही रस है। जो बोल रहा है, वह यही पानी है।

उसी समय दरवाज़ा खुला और रेणु ने अंदर झाँक कर उनसे कहा, 'मेहता साहब आपको बाहर याद कर रहे हैं।'

और साथ ही बाहर की बहुत-सी ध्वनियाँ एक साथ इस कमरे में चली आईं। उधर कुछ लड़कियाँ खिलखिला रही थीं, एक कुत्ता भौंक रहा था, दो युवक बहस कर रहे थे, और ग्रामोफोन पर रिकार्ड बज रहा था—

पिलाए जा तू साक़िया,
अभी तो मैं जवान हूँ,
अभी तो मैं जवान हूँ।

और मैं सोच रहा हूँ कि महाशय कैलाश भी अभी जवान हैं। तारा मर गई तो कोई बात नहीं। लाली मर गया तो कोई चिन्ता नहीं। जवानी तो नहीं मरी ?

'संघर्ष के सात वर्ष' में कुल तीन सौ पच्चीस पृष्ठ हैं। हर पृष्ठ में पंक्तियाँ हैं। हर पंक्ति में शब्द हैं। और शब्दों के पीछे एक नारी रो रही है, एक बच्चा सिसक रहा है, और एक पुरुष गुनगुना रहा है,

पिलाए जा तू साकिया,
अभी तो मैं जवान हूँ,
अभी तो मैं जवान हूँ।

(अप्रैल, ४६ बंबई)

दोराहा

खाली सड़क पर चलते हुए केसरी ने महसूस किया कि वह अकेला है—कोई आगे नहीं, पीछे नहीं, साथ नहीं। जीवन में न दिशा है, न मंजिल। अच्छा है। मंजिल का मतलब है कहीं जाकर रुकने की कल्पना। वह ऐसी कल्पना करे ही क्यों?

ओवरकोट की जेब में हाथ डाला। सिगरेट केस नहीं था। एक दुकान से उसने सिगरेट लेकर सुलगाई और आगे चला।

आकाश में बादल काले भी थे, सफेद भी। काले बादलों में स्थिरता थी, उनकी आकृतियां कम बदलती थीं। सफेद बादल उड़े जा रहे थे और नए-नए रूप बदलकर छितरा जाते थे। केसरी ने मुँह से धुआँ छोड़ा। वह थोड़ा ऊपर उठा और गायब हो गया। केसरी अपने जीवन को मिलाने लगा—काले सफेद बादलों से, मुँह के धुएँ से।

उसने विचारों को झटका दिया। क्या व्यर्थ की बातें सोचना। क्लब में जाय, ताश खेले—पर नहीं। ताश सब खेलते हैं। जो काम सब करें उसे करने में क्या मजा?

तो क्या करे? छः बजे हैं और ग्यारह से पहले नींद नहीं आएगी। पढ़ा जा सकता है। किसी अच्छी सी किताब के सहारे समय बीत सकता है। पर लोग लिखते क्या हैं? अधिकतर शब्दों के तानेबाने। जब अपने ही विचारों का द्वन्द्व समाप्त नहीं

होता, तो दूसरों के विचार जानने समझने की चेष्टा अपने पर ही व्यंग्य नहीं तो और क्या है ?

बैठकर कुछ सोचे ? सोच तो अब भी रहा है ? यह बुरी आदत है। टहलते टहलते यह सोचने का भूत सवार हो जाता है।

सिगरेट को जमीन पर फेंक कर उसने मसल दिया। लाल अंगारे की जगह कालिख रह गई। जीवन भी इसी तरह एक दिन '

उसने हाथ जेबों में डाल लिये। दृष्टि फिर आकाश की ओर गई। सफेद बादलों की सीढ़ियां-सी बन गई थीं। पक्षी चहकते हुए चक्कर लगा रहे थे। दो एक पंख हवा में उड़ते हुए आये और केसरी के ओवरकोट से चिपक गए। एक पख मे कई रंग थे। केसरी ने उसे सहला कर जेब में डाल लिया। फिर सीटी बजाता हुआ तेज चलने लगा, मानो जेब में पड़ा हुआ पख उड़ने और चहकने पर मजबूर कर रहा हो।

दोराहे पर वह रुका। सामने वाली सड़क बहुत दूर तक सीधी चली जाती है। दाईं ओर से वह घर जा सकता है। दूर तक सीधे चलते जाना हिम्मत का काम है।

वह मुड़ा। सिगरेट मुँह में लगाई तो याद आया कि माचिस नहीं खरीदी। ऐसी बेवकूफियाँ अक्सर हो जाती हैं। इसे आश्चर्य या पछतावा नहीं।

घर तक रोशनी के तरह खंभे हैं। पहला दोराहे पर और अंतिम घर के सामने। इनकी बत्तियाँ रात मे जलती हैं, दिन में बुझी रहती हैं। उसके अन्दर जो जलन है, वह कभी क्यों नहीं बुझती ? ' ' पर वह इन्सान है, बिजलीघर नहीं। इन्सान जले तो जलता रहता है, बुझे तो बुझ ही जाता है। यदि इन्सान का अपने पर भी नियंत्रण होता ? शरीर में जगह जगह बटन होते ? एक के दबाने से हँसता, दूसरे के दबाने से रोता ? उठने बैठने, बोलने चालने, सोने जागने, नाचने गाने के अलग अलग बटन होते ?

केसरी ने कल्पना की कि उसके शरीर में भी बटन लगे हैं, और सोचते ही उसके मुँह से निकल गया, "अहमक !" होंठ काट कर उसने चारों ओर देखा कि किसी ने सुन तो नहीं लिया।

फाटक बन्द था। उसने नौकर को आवाज दी। कबीरा जल्दी फाटक खोल गया। ड्राइंगरूम केसरी को नया सा लगा। कबीरे ने खूब मेहनत की थी। उसने ओवरकोट सोफे पर फेंक दिया, फेल्ट हैट उसके ऊपर। रेडियो खोल दिया।

कबीरा चिट्ठियाँ लाया। तिपाई की ओर इशारा करके केसरी रेडियो की सुई घुमाता रहा। कव्वाली, ठुमरी, दादरा, गजल, भजन और गीत—वह झुँझलाया। उसे कोई पसन्द नहीं आया। रेडियो बन्द कर दिया।

सिगरेट सुलगाते हुए याद आया कि कबीरा डाक रख गया है। तिपाई पर एक साथ पन्द्रह-बीस चिट्ठियाँ देख कर उसे आश्चर्य हुआ। आसमानी रंग के लिफाफे के बाहर सुनहरी अक्षरों में 'न्यू इयर ग्रीटिंग्स्' छपा देखकर याद आया कि आज जनवरी की पहली तारीख है। उसने सोच लिया कि सब ऐसे ही कार्ड होंगे। अनुमान ठीक था। मिनिस्टर से पूर्णिमा तक सबने छपे हुए कार्डों के नीचे हस्ताक्षर करके भेजे थे।

छोटा नीला लिफाफा बाहर से बन्द था। उस पर तीन पैसे के बजाए छः पैसे के टिकट लगे थे। उसे खोला तो कोई छपा हुआ कार्ड नहीं मिला। उसे कुछ तसल्ली हुई। नीले कागज की तह को खोला। हरी स्याही से लिखी केवल एक पंक्ति उस पर चमक रही थी :

"नए वर्ष के दिन पुराने वर्ष की स्मृतियाँ"—श्यामा—

मन, [illegible] हो गया। एक दिन के व्यवधान ने पिछले तीन सौ पैंसठ दिनों की समष्टि को अतीत के तहखाने में डाल दिया। जिन्दगी के सूत्र में एक और गाँठ पड़ गई।

पुराने वर्ष की स्मृतियाँ !

वे बातें जो जिंदगी पर गहरी छाप छोड़ गईं, उनके लिए छोटा सा शब्द—स्मृतियाँ।

उसने विचारों को रोका। दिमागी तानेबाने कैसी उलझनों म ले जाते हैं। असलियत से दूर वह कहाँ-से-कहाँ चला जाता है।

असलियत यह है कि आज पहली जनवरी है—मित्रों ने खुशी के पैगाम भेजे हैं, और श्यामा ने यह एक पंक्ति जिसके छपे शब्द नीले कागज पर उभर रहे हैं।

छपे शब्दों की आकृतियाँ उसके सामने हैं। इन शब्दों के पीछे जो आकृतियाँ हैं, वे भी धुन्ध से निकल कर सामने आ रही हैं

शिमले के एक होटल में वह और पूर्णिमा बैठे थे।

पूर्णिमा चाय पी रही थी—या हलकी चुस्कियों से समय बिताने का बहाना कर रही थी। वह कुहनियाँ मेज पर रखे एक हाथ की उंगलियों को दूसरे हाथ से मसल रहा था।

उसका प्याला खाली था। सिगरेट का आखिरी टुकड़ा वह एशट्रे में डाल चुका था।

पूर्णिमा ने मुसकरा कर कहा, "और सिगरेट क्यों नहीं मगा लेते?"

उसने सिर हिलाया, "तबीयत नहीं।"

"और चाय?"

"नहीं।"

कुछ देर दोनों चुप रहे। पूर्णिमा हार कर बोली, "यों जरा सी बात से तुम्हारा मूड बिगड़ गया। मेरे अपने विचार हैं। बुरा लगा हो तो मैं इस विषय को फिर छेड़ूंगी भी नहीं।"

उत्तर न देकर वह तश्तरी में प्याले को घुमाता रहा। बैरे को देखकर उसने कहा, "बिल", बैरे ने प्लेटें उठालीं।

सड़क पर चलते चलते पूर्णिमा ने उस का हाथ पकड़ लिया। वह

चुप रहा। पूर्णिमा उतावली सी कहने लगी, "मैं माने लेती हूँ कि मैं गलती पर थी। तुम कुछ बोलो तो सही।"

"नदी कल से अधिक है", उसने उत्तर में कहा।

"मैंने नदी की बात नहीं पूछी।"

"और कोई बात भी हो, जिसे मैं कहूँ और तुम समझ लो?"

उसने चोट की थी। पूर्णिमा ने उसका हाथ छोड़ दिया। वह रुकी तो उसे भी रुकना पड़ा। पूर्णिमा ने गम्भीर होकर कहा, "मैं इधर से घर चलूँ ..."

"अच्छा।"

वह आगे चल दिया। पैर तेज़ी से उठने लगे वह जल्दी से अपने होटल पहुँचना चाहता था। अकेले बैठकर सोचना चाहता था। पूर्णिमा ने चाय पीते-पीते कितनी बातें कह दी थीं।

नारी के रूप कितनी जल्दी बदल जाते हैं। उसे क्या अनुमान था कि पूर्णिमा श्यामा के साथ उसके परिचय को लेकर ऐसी ऐसी कल्पनाएँ करेगी? अर्थहीन व्यंग्य—इसलिए कि श्यामा के साथ उसे सहानुभूति थी। उसने अपने विचारों को छिपाया नहीं—जो सोचा पूर्णिमा से कह दिया। यही गलती हुई। कपट न करना गुनाह है। पूर्णिमा ने यह कहने का साहस किया कि श्यामा उसकी कमज़ोरी बनती जा रही है।

माना कि श्यामा के साथ परिचय थोड़े दिनों का था, फिर भी क्या यह उसका कर्त्तव्य नहीं था कि बेचारी को उस रात पार्टी के बाद घर तक छोड़ आता? रिक्शा नहीं मिली—वह पैदल अकेली जाती? वह पूर्णिमा के साथ कई बार गया है, तो श्यामा को ही क्यों टाल देता?

श्यामा! पहले परिचय में उसे लगा था कि वह नई कली की तरह है जिसे मकरन्द घुलने से पहले नाखून चुभो दिया गया हो। दूसरे परिचय में वह अधिक जान गया था।

वह होटल पहुँच गया। सीधा अपने कमरे में जाना, पर नौकर ने पहले ही उसे एक परचा दिया। श्यामा ने घर आने के लिये लिखा था—परचा मिलते ही।

उसने छोटे से कागज के टुकड़े की अवहेलना करनी चाही, पर उसके मन ने विद्रोह किया। यह कमजोरी क्यों? एक साधारण व्यग्य के आगे उसका पुरुष झुक जाए? पूर्णिमा की समालोचना का महत्व ही क्या है? उसे जाना चाहिये · जाकर होगा भी क्या? श्यामा की मलिन हँसी, सोच सोच कर कहे हुए शब्द। वह पहेली सी रहना चाहती है, तो उसे बुझाने से मतलब? दिखावटी घनिष्ठता! वह लोगों के व्यग्य सहे, उन्हें उँगली उठाने का मौका दे, किस लिए? नहीं, वह नारी है—एक ऐसी उलझन जो अपने आप सुलझती है मगर धीरे धीरे। वह एक जाल की तरह फैलती है, मगर स्वयं ही उधड़ने लगती है। फिर वह अभी उस का साधारण परिचित है · साधारण परिचित? साधारण परिचित को कोई ऐसे बुला भेजता है?

वह सड़क पर आ गया था। पैर चल रहे थे, वह जा रहा था? हृदय में गति थी, पैरों में गति थी, मस्तिष्क में गति थी। पर जैसे सब गतियों के सत्ताकेन्द्र अलग-अलग थे। उन्हें आपस में न मतलब था, न पहचान। वह भूला-सा जा रहा था, सोच रहा था।

श्यामा के साथ उसका परिचय साधारण नहीं था। पार्टी में इतने मित्र थे, पर श्यामा ने उसे ही साथ चलने को कहा, घर पहुँचने से पहले बाग में टहलने की प्रेरणा की, फिर चाय पर बुलाकर उसे ऐसे प्रश्न पूछती रही। उस दिन जीवन की बेजारियों की ओर संकेत करते वह बार बार उसकी आँखों में क्यों देखती थी? फिर आज उसने घर बुलाया। और वह खुद श्यामा के बारे में पूर्णिमा से उसकी पूछताछ करता रहा? उससे कह बैठा था कि श्यामा में एक विचित्र

आकर्षण है, जो साधारण लड़कियों में नहीं होता। पूर्णिमा इसी लिये चिढ़ी थी ?

चाँदनी में उसकी परछाईं उसके आगे-आगे चल रही थी, जैसे अचेतन मन पैरों को खींच रहा हो। वह अचानक रुका। जहाँ से मुड़ना था वहाँ से वह आगे निकल आया था। एक दृष्टि लम्बे रास्ते पर डाल कर वह लौटा।

श्यामा कितनी उत्सुक थी! गोल कमरे में ले गई, और खुद ही उसके ओवरकोट के बटन खोलने लगी। उसने ओवरकोट नहीं उतारा। सोफे पर बैठ गया। श्यामा साथ आ बैठी। एक किताब के पन्ने पलटते हुए उसने पूछा, "तबीयत ठीक है न ?"

"बिल्कुल।"

"पर्चा मिल गया था ?"

"हाँ। कैसे याद किया ?"

"बात करने को जी चाहता था," हेयरपिन उतार कर फिर लगाती हुई वह बोली, "माँ लाहौर गई हैं चंचल को छोड़ने। अकेले जी नहीं लगता था।"

"तुम्हें अकेले रहना बहुत पसन्द है—तुमने कहा था।"

"हाँ, पर हमेशा नहीं।"

वह मुस्कराई। ताज़ा मेकअप चेहरे पर खिल रहा था। पर उस ताज़गी में भी मलिनता छिपी हुई थी। वह देखता रहा—सौंदर्य से अधिक उस रमणीयता को। श्यामा की आँखें ज़रा झुकीं। उन्हें अच्छी तरह लजाना नहीं आता था।

"यह गिलास पानी—नौकरानी से कह दो ?"

वह स्वयं उठी। जाते-जाते उसने कहा, "नौकरानी घर में नहीं है।"

श्यामा दरवाज़े से निकल गई तो भी कमरे में बसी हुई सुगन्ध उसकी उपस्थिति का आभास देती रही। वह दृष्टि घुमा कर कमरे की

चीजें देखने लगा। फ़रनीचर में चमक थी। मेज़पोश नए थे। मेज़ पर लैटरपैड था, लैटरपैड के पहले सफे पर पैंसिल से लिखे दो शब्द—डियर मिस्टर—मिस्टर काट दिया गया था। सजावट के सामान में दो अर्धनग्न परियाँ....

श्यामा पानी ले आई। गिलास लेते हुए उसने उसकी उँगली में अँगूठी देखी, अँगूठी में नीलम, नीलम में अँग्रेज़ी वर्णमाला का एक अक्षर 'एस'।

चार घूँट पीकर उसने गिलास रख दिया। श्यामा अपनी पहली जगह पर बैठ गई।

"नौकरानी कहाँ चली गई?" उसने अनायास ही पूछा।

"आज उसकी छुट्टी है," वह बोली।

"छुट्टी?"

"मैंने कहा एक दिन आराम कर ले। रोज़ तो काम करती है।" होंठ फिर मुस्कराए पर वह भौंहों पर खेलती हुई करुणा को देखता रहा।

"परचा देने कौन गया था?" उसने पूछा।

"मैं।" श्यामा की बाँह उसके ओवरकोट की सिकुड़नों को छूने लगी थी।

"तुम गई थीं!" उसके में आश्चर्य था।

"क्यों कोई हर्ज था?"

श्यामा वाचाल बनने की चेष्टा कर रही थी। वह देख रहा था उसकी आँखें—आँखें जो बहुत गहरी थीं। उनकी तह तक जाना उसके वश में नहीं था। वह देखता रहा।

पन्द्रह दिन में श्यामा एक अनबूझ पहेली के हल की तरह सरल लगने लगी। वह समझ चुका, वह समझा चुकी। बात साफ़ थी।

वह श्यामा के जीवन में पहला पुरुष नहीं था। पूर्णिमा की कही बातें सच थीं। पर जिस सच्चाई को वह कहत्री करती थी वह श्यामा

वे पतले होठों से कितनी लुभावनी और मधुर बन कर निकलती थी! उसकी छाती के बालों से खेलती हुई श्यामा बोली थी—उसने पहले भी प्यार किया है। वह इसे भूल नहीं मानती। शील उसके यौवन में निकट परिचित पहला युवक था। वह उसी से खेलने लगी। मगर वह दूर दूर रही है, शील की भावुकता को उत्तेजित करने के लिये। फिर शील अचानक चला गया—उसे दुःख नहीं है।

निर्झर की पहली उमग की तरह यौवन की पहली उमग मचलती है। शील उसकी गति में स्वयं अवरोध बन कर आया। वह जीत गई—समझी कि जीत गई। वह वह जो गया।

गभीर मैदान की गोद में आने से पहले नदी कई बार गिरती, टूटती और बिखरती है। यह अपराध नहीं, सत्ता का अनुभव है अब वह भी जीवन के सम स्तर को पहचान चुकी है। उसे मथर हो कर चलना है।

श्यामा उसे समझाने के लिये इतनी बातें कहती, वह उसके होठों की थिरकनें गिनता, पलकों के निमेष गिनता, माथे की सिकुडनें गिनता। श्यामा समझती थी उसे बोलना चाहिये। वह जानता था बोलने से चुप रहना अधिक अच्छा है। उन होंठों को, उन पलकों को देखते रहना।

पन्द्रह दिन—

पन्द्रह दिनों की कहानियाँ बन गई।

कहा जाता श्यामा आचारहीन है, केसरी पर डोरे डाल रही है। उसे फुसला रही है। श्यामा, जो कभी शील के प्यार का दम भरती थी, शील के बंबाई चले जाने पर, वहाँ से उसे पत्र न लिखने पर, उपहार न भेजने पर, अपना लिप्सा दूसरे पर आज़माने चली है। जैसे खिलौनों से खेल रही हो—एक टूट गया, दूसरा सही।

वह सुना करता था। वह देखा करता था। लोग इशारे करते थे। श्यामा उसकी बाँहों में बाँहें डाल कर चलती थी। लोग आवाज़ें कसते

थे। वह मुसकराता था। किसी की परवाह वह क्यों करे? वह श्यामा से प्यार कर रहा था, उसके व्यवहार के लिये नहीं, सौंदर्य के लिये नहीं—उस मलिनता को दूर करने के लिये जो उसके व्यवहार में घुलती जा रही थी। और उसके सौंदर्य में घुलती जा रही थी। अनादर होने की भावना बेचारी के जीवन रस को सुखा देती। वह यह नहीं चाहता था। सहानुभूति हो जाती है और सहानुभूति से प्यार।

उस दिन प्रात' की कड़ी दोपहर बाद रुकी। अपने कमरे की खिड़की के पास बैठा वह पढ़ रहा था। दरवाज़ा खुला और बन्द हुआ। पूर्णिमा थी।

"पूर्णिमा, इतने दिनों के बाद?" वह स्वागत के लिये उठा।

पूर्णिमा बैठी। कुछ क्षण चुपचाप उसकी आँखों में देखती रही।

"आज कैसे भूल पड़ीं?" उसने फिर पूछा।

"मिलने चली आई। तुमने कहा था न कि चार सप्ताह से अधिक नहीं रहोगे यहाँ।"

"हाँ ख्याल है अभी रहूँगा।"

पूर्णिमा ज़रा गम्भीर होकर बोली, "तुम्हारा विचार रहने का है, मैं जानती हूँ। पर तुम रहोगे नहीं शायद।"

पूर्णिमा की बात उसकी समझ में नहीं आई। वह इतने निश्चय से कह रही थी कि पल भर के लिये उसे स्वयं ही अपनी बात पर [illegible] हो गया। फिर यह सोचा कि शायद पूर्णिमा यह समझी हो कि

[illegible] श्यामा के साथ

श्यामा के साथ उसे चार बजे चाय पीनी है। साढ़े तीन हो चुके हैं। वह बोला "चलते-चलते बात करें, तो कैसा रहे? चार बजे मेरी चाय है।"

"श्यामा के साथ?"

वह बोला नहीं। केवल सिर हिला दिया।

"कहाँ एपॉइंटमेंट है?"

उसने पूर्णिमा को देखा। पूर्णिमा की दृष्टि में भी उतना ही व्यंग्य था, जितना स्वर में।

"उसके घर ही," उसने टाई ठीक करते-करते उत्तर दिया।

"पर वह आज घर में नहीं है।" पूर्णिमा ने स्वर में अधिक गम्भीरता लाने की कोशिश की।

"चार बजे तक आ जायगी। वह एपॉइंमेंट मिस नहीं करती।"

"वह आज किसी वक़्त भी घर नहीं आयगी।"

कोट को हैंगर पर ही छोड़ कर पूर्णिमा के चेहरे को पढ़ लेने के उद्देश्य से वह उसके निकट आया। पूर्णिमा की आँखें स्थिर थीं, और अधर जैसे उपहास कर रही थीं।

"आयगी नहीं, तुमसे किसने कहा?" उसने पूछ लिया।

"श्यामा की माँ ने।"

"श्यामा की माँ ने?"

"हाँ। वह कहती थी श्यामा दो-चार दिन लाहौर रहेगी, फिर कराची जायगी, वहाँ से शायद ....।"

"पूर्णिमा!" वह अस्वाभाविक स्वर में बोला, "तुम्हें किसने बहका दिया?"

"मैं ही नहीं, तुम्हारे सब मित्र जानते हैं।"

वह और निकट आया। स्वर को स्वाभाविक बना कर उसने कहा—"यह क्या पहेली है—श्यामा लाहौर रहेगी कराची जायगी?"

"शायद यही प्रोग्राम है।"

"शायद?"

"श्यामा की माँ कहती थी। कराची से शायद उसे शवाई जाना पड़े।"

पिट-पिट करती एक मोटर साईकिल तेज़ी से आई और निकल गई। [illegible] विचारों का तांता टूटा। होटल नहीं, उसका घर पूर्णिमा

नहीं, सामने तिपाई पर नए साल के ग्रीटिंग कार्डस, हाथों में नीला काग़ज़—नीले कागज़ पर हरी पंक्ति . ..

'पुराने वर्ष की स्मृतियाँ,' वह सहसा बड़बड़ाया। झटके के साथ उसने गले से कोट उतारा और सामने कुर्सी की ओर फेंक दिया। शरीर कुछ ऐसे हलका हो गया जैसे पुराना शाल गले से उतार फेंका हो। फिर वह सोफे पर लेट गया और हरे कागज को गोल करके उसके अन्दर से छत की कड़ियों को देखने लगा। एक के बाद दूसरी, उसके बाद तीसरी, फिर उसके बाद चौथी

बाहर अंधेरा गहरा होता गया।

(जनवरी, ४७, लाहौर)

धुंधला दीप

जीवन के कई दिन कितने लम्बे हो जाते हैं? घर बैठे केसरी का दिल भारी होने लगा। पर अकेला जाए भी कहाँ? किसी रेस्तराँ में? अपने को छलने का यह अच्छा रास्ता है। घड़ी दो घड़ी के लिए उदासियाँ खो जाती हैं। देखने, सुनने और चखने में आत्मा मूर्छ हो जाती है। पर घर लौटो, तो फिर से वही उदासियाँ। चलो, इतना ही सही। कुछ तो समय बीतेगा ही।

बालों को ठीक करके कोट पहना। बटुए में पैसों की परीक्षा की। साइकिल उठाई, और चल पड़ा।

खचाखच भरे हुए रेस्तराँ में प्रवेश करके उसने चारों ओर देखा। मीठा शोर, हल्के कहकहे, पतला धुआँ और झीनी खुशबू। चेहरे प्रायः सभी मग्न थे। आत्मीयता थी, तो हरे रंग की दीवारों में ही।

कोने की मेज के पास बैठकर वह आस पास के वातावरण में ताजगी खोजने की चेष्टा करने लगा। आगे गोरे लोग बैठे थे। तीन लड़कियाँ सुन्दर रंगों के स्कर्ट पहने थीं। फीका हरा, बादामी और सफेद। एक युवक था एक अधेड़ था और दो बच्चे। दाईं ओर दो भारतीय नवयुवतियाँ दस पुरुषों के घेरे में बैठी शरबत की चुस्कियाँ ले रही थीं।

केसरी ने अन्तर महसूस किया। अँग्रेज लड़कियाँ खुलकर हँसती हैं। कोई बात होने पर यों मचलती हैं जैसे शरीर में लचकदार स्प्रिंग

हों। और भारतीय नवयुवतियाँ? पश्चिमीय रंगों के नीचे भी व्यवहारहीन बैठी हैं, जैसे शिल्पकार उनकी मूर्तियाँ बना रहा हो। लिपस्टिक से लाल होठों पर नपी तुली मुस्कराहट।

उसने ध्यान हटाया। अनजान लड़कियों के लिए सोचने से लाभ ही क्या? यहाँ तो जीवन की रीढ़ की हड्डी ही गली हुई है। व्यर्थ में वह अपने चिन्तन का दुरुपयोग क्यों होने दे?

बैरा आया। उसने बियर के लिए कह दिया। आँखें पलभर एक सरदार जी की दाढ़ी में उलझे हुए धागे पर रुकीं। फिर उसने सिगरेट निकाली। जेब से अखबार का पन्ना भी निकला। कई दिनों से यह पन्ना जेब में है। पन्ने पर चित्र है—युवक और युवती। नया विवाहित जोड़ा, जिसे हर कोण से वह देख चुका है।

राधा ने नरेन्द्र से विवाह कर लिया। वही नरेन्द्र जिसे वह अपना भाई बतलाती थी। कहाँ गई वह नारी, और कहाँ गये नारी के अधिकार? नारी की स्वतंत्रता जिसका पहला परिणाम होता है। उसके नारीत्व का स्वसमर्पण। फिर भी राधा का दावा था

मन झुँझलाया। हो गया विवाह, तो हुआ करे। रोज ही होते हैं प्रेम विवाह। रद्दी लिपियों को ढाँकने के लिए चमकीले मोहर बन्द लिफाफे।

प्रेम विवाह। फिर भी लड़के के सिर पर सेहरा है, लड़की के हाथों में चूड़ियाँ। माथे में सिंदूर भी। वाह री विडंबना! बीसवीं सदी का प्रेम, और यह पत्थर कालीन विवाह। ठर्रे की शराब, पर विलायती बोतल में। युवक और युवती, परिचय और प्रेम, हरे नीले पत्रों पर शेक्सपियर व शेली के वाक्य, रूमाल, सेंट, अमरीकन चित्र, उद्यान विहार, कविता, और अन्त में माता पिता की सत्ता का आविष्कार।

प्रेम की बेल फूटने से पहले, पंडितों की सहायता से, वेदी के नाचे, वेदमंत्र पढ़कर शुभ विवाह अर्थात समाज सुधार।

बैरे ने बोतल खोल कर बियर गिलास में डाल दी। केसरी ने दो चार घूँट पिए। फिर चाहा उस गिलास को चूम ले, बियर की शीतलता को चूम ले, तरलता को चूम ले। लोगों को देखकर निराशा हुई। वे उसे पागल समझेंगे। समझेंगे, तो समझते रहें। उसे क्या? गिलास को चूम कर उसने होठों से लगाया। एक घूँट में खाली कर दिया।

नारी से अधिक उसे बियर से प्रेम है। बियर का उन्माद अंतिम घूँट तक चलता है। होठों को छूकर इसका रंग नहीं बदलता। उफान कभी घटता नहीं। गहराई कभी जाती नहीं। बैरे से उसने दूसरी बोतल लाने के लिए कहा।

वाद्य संगीत आरम्भ हुआ। उसके स्वर लहरों की तरह शरीर में हिलोरें लेने लगे। नई बोतल आई। एक गिलास पी लिया। लगा, शीघ्र दो पंख निकलेंगे। पंखों से वह ऊपर तैरेगा। पंख फड़फड़ाएँगे—इसी लय में, इसी स्वर में।

बोतल खाली करदी। और मँगवाई। वह भी पी डाली। फिर और आई। वह भी उँडेल ली।

पल भर के लिए अनुभव हुआ कि पंख निकल आए हैं। पंखों में सुन्दर-सुन्दर रंग हैं। फीका हरा, बादामी और सफेद। रंग झिलमिला रहे हैं। वह ऊपर उठ रहा है। छत के हंडे झूम रहे हैं। वाद्य स्वर तेज़ हैं। लोग मद मौन हैं। ऊपर और ऊपर। अभी वह छत को छू लेगा

अचानक पंख टूट गए। वह कुर्सी पर आ गिरा। गिलास में से बियर छलक गई।

वाद्य संगीत रुक गया था। गोरे लोग उठकर जा रहे थे। बियर की धार अखबार के पन्ने पर अफ्रीका का चित्र बना रही थी। पन्ने पर प्रकाशित फोटो को उसने ध्यान से देखा? फिर युवती के समूचे आकार को [illegible] समझ लिया। अस्पष्ट स्वर में कहा, "नारी।" बियर

का गिलास ठीक चित्र के ऊपर रख दिया। हृदय में जैसे एक उबार निकल गया।

उठकर केसरी ने एक नजर चारों ओर देख लिया। मरक और उदासीनता का परिचय देता हुआ वह काउंटर तक आया। पाँच पाँच के तीन नोट दे दिए। न तो बिल लिया, न हिसाब ही पूछा। फिर उस वातावरण को जैसे तिरस्कृत करके वहाँ से बाहर निकल आया।

बाहर कुछ धूप भी थी, धूल भी। वह निरुद्देश्य फुटपाथ पर चलने लगा। चलते-चलते रुक कर एक कोमल पौधे की टहनी तोड़ ली। टहनी के कोर पर दूध सिमसिमाया देखा। पल भर विमर्श किया। फिर उसे फेंक दिया। कोई पास से मुसकराता हुआ निकल गया।

साँझ उतर रही थी। लारेंस बाग में लोग बिखरे हुए थे। केसरी ने सामने से कृत्रिम पहाड़ी को देखा। देखकर दार्शनिक ढंग से मुसकराया। मनुष्य का बचपन नहीं जाता। लोग लारेंस की पहाड़ियों पर घूम कर जी बहला लेते हैं, जैसे बच्चे मिट्टी की रानो से खेलकर। लारेंस की महान् पहाड़ियाँ। मई में तापमान एक सौ सत्रह, जून में हरियाली गायब, जुलाई में ईंटों के भट्ट... डारविन ठीक कह गया है—मनुष्य बन्दर की ही सन्तान है। नक़ल करने में बेटा बाप से कहीं आगे निकल आया है।

वह पहाड़ी पर चढ़ने लगा। कमीज शरीर से चिपक रही थी। शिमले की पहाड़ियों पर घूमना याद आया। खेद हुआ कि विज्ञान अभी इतना पीछे क्यों है? क्यों यह सम्भव नहीं कि शिमले के बर्फानी बादल पैक करके लाहौर लाए जाएँ, और लाहौर की लू बन्द डिब्बों में शिमले भेजी जाये? पर असम्भव ही क्या है? आज नहीं, तो कुछ वर्ष बाद सही। ऐसा युग कभी तो आयेगा ही।

कितना अच्छा हो, जो मानवीय भावनाओं का भी स्थूल रूप दिया जा सके? पागलपन की गोलियाँ बनें—जो खाले, वही मजनूँ बन जाए। प्रेम की टिकियाँ हों—जिसे दे दो, वही रात को तारे गिने। कविता की

भी पाउडर बाजार में बिका करे। तब तो अपने सब मित्रों को वह यही उपहार भेजा करे। कविता की पुड़िया, पानी के साथ खाओ और छन्द लिखो।

टीन के डिब्बे पर उसका जूता फिसल गया। वह अपने आप पर हँसा। उस पर तो बिना गोली खाये ही पागलपन सवार हो गया। किसी दिन अवश्य कोई दुर्घटना हो जायगी। सँभल कर चलता हुआ वह पहाड़ी के ऊपर पहुँच गया।

पहाड़ी पर से उसने देखा—नीचे सड़कों पर लोग अनजाने चले जा रहे हैं। कोई बात करता है, कोई हँसता है, और कोई छड़ी घुमाता हुआ केवल सैर करता है। इन सब के बीच में घिरा हुआ वह अकेला है।

अकेला तो है, पर घिरने की बात क्या? संसार में अपने को ही केन्द्र मान कर क्यों चलना? लोगों को उसके अस्तित्व से क्या सम्बन्ध! फिर उसे ही लोगों के अस्तित्व की क्या चिन्ता? उसे केवल एक जीवन जीना है—अपना एक जीवन। अच्छा बुरा, जो भी है, वह उसका ही तो है। पर राधा क्या कहती थी? वह जीवन का अपमान करता है? अपनी आत्मा को धोखा देता है? नहीं, यह सब झूठ है, बकवास है। राधा अपनी कसौटियों को तो आग में रख कर देखे। कुछ भी शेष नहीं रहेगा।

फिर वही राधा की बात? क्यों नहीं! राधा ने उसे एक बार स्निग्ध उज्ज्वल नेत्रों से नहीं देखा था? फिर वही नेत्र कुछ क्षणों में पाषाण होकर क्यों रह गए? वह सांसारिक भद्रता का कवच पहन कर अपने सत्य को नहीं छिपाता—यही न? पर वह क्यों उसका उपयोग करे? ऐसा कवच क्या मानवता को छील नहीं देगा?

उसके अन्दर कौन सा पाप है? संसार को अपना वास्तविक परिचय दे देना—इतना ही? मानव होकर अपने को वह मानव न कहे, तो

क्या कहे ? देवत्व की खाल में छिप कर क्या जीवन अधिक खोखला नहीं हो जाता ?

हृदय उद्दाम भी होने लगा, अशांत भी। उसने घर चल कर लेट जाने की सोची। अब साइकिल का ध्यान आया। वह तो रेस्तराँ के बाहर ही छूट गई थी। वह लौट कर साइकिल लाने चला। कुछ देर के लिए मस्तिष्क से निकल कर वह शरीर में अवस्थित हो गया।

"केसरी।" किसी ने रेस्तराँ के बाहर उसे पुकारा। घूम कर देखा। मोहन था। पास आकर मोहन ने उसके कंधे को छूआ। कहा, "ठीक समय पर मिले, यार। अकेले पीने को दिल नहीं करता था। चल, बैठें अन्दर।"

केसरी ने पहले मना कर देना चाहा। पर तुरन्त ही उसने अपना विरोध कर लिया। राधा कहती थी यह जीवन का अपमान करता है। अपमान ही सही। अपमान ही नहीं, वह जीवन में घाव भी क्यों नहीं करे ? खोखले चाम से लहू बहता क्यों नहीं देखे ? आज पी ले, खूब पी ले। फिर उस आदर्श भारतीय नारी को जाकर ब्याह की बधाई दे आए।

इस विचार ने उसके हृदय को कुछ संताप दिया। उसने जब अनुनय स्वीकार करने के ढंग से कहा, "एक घंटे से अधिक नहीं बैठ सकता। फिर मुझे किसी से मिलने जाना है।"

"जब मन में आए, चले जाना, यार। अभी अन्दर तो चलो।" मोहन उसे बाँह से पकड़ कर अन्दर ले चला।

केसरी ने पुनः उसी वातावरण को देखा। पहले लोग जा चुके थे, और नए लोग वहाँ आ गए थे। होटलों के जीवन में यही बात भली लगती है। हर बार नए परिवार में बैठ कर जीवन नया-सा लगता है। इस बार उसने बीच की एक मेज चुन ली।

मोहन ने बैठ कर पूछा, "स्कॉच ?"

केसरी ने सिर हिला कर अनुमोदन किया।

स्कॉच के कुछ घूँट भर लेने पर केसरी को आराम-सा आया। कुछ

चित्र गहरे धुँधले होने लगे। तीसरा पैग खाली कर चुका, तो मोहन के शब्द ध्वनित होते तो सुनाई दे रहे थे, पर उनका व्यक्त अर्थ समझ में आने से पहले ही स्खलित हो जाता था। केवल एक गूँज सी अन्दर रह जाती थी, जिसका अर्थ होता था—आत्मा के साथ धोखा, जीवन का अपमान। फिर दोनों का असमंजस।

रमा वहाँ आया तो केसरी पूरा अभिवादन भी नहीं कर पाया। हाथ मिलाते हुए यही शब्द बोलता रहा, "ओ माई डियर, ओ माई डियर!" शेष जो कहने को था, वह जैसे कहीं खो गया था। प्रयत्न करने पर भी शब्द पकड़ में नहीं आए। वह खामोश हो गया।

रमा और मोहन जब कला-प्रदर्शिनी की रेखाएँ बनाने लगे, तो वह ऐसा प्रकट करने की व्यर्थ चेष्टा करता रहा कि विषय में रुचि न रहने के कारण वह खामोश है। वास्तव में उसकी शक्तियाँ पूरी तरह शिथिलता के वश में आ चुकी थीं। कला और सैक्स की गूँज में से निकल कर उभर रहा था एक नारी रूप—अस्पष्ट। पहले चित्रमय, फिर शरीरमय, फिर प्राणमय।

राधा जब उसने पहली बार देखा था, बंगले के बरामदे में बैठी कोई किताब पढ़ रही थी। सैंडल से दोपट्टे तक सफ़ेद, मुख पर टैंजी की सुरभि, गालों पर पर्यटवस का रंग, सुन्दर गठन, आकर्षक आँखें।

फिर साँझ न रही। बिजली खराब होने से, मिट्टी के तेल का टेबिल लैंप जल रहा था। बाबू मोतीलाल ने परिचय कराया, और काम से बाहर चले गए। राधा बोली, 'आप हमारे यहाँ बिलकुल अपरिचित नहीं। पिता जी प्राय आपकी तारीफ़ किया करते हैं।'

"मेरी तारीफ़?" उत्तर दिया उसने। "आभारी हूँ उनका। लोग तो प्राय मेरी निंदा ही करते हैं।"

सुन कर वह मौन रही। देखने में वह सोलह सत्रह की लगती थी। हृदय की गम्भीर रेखाओं से दो तीन वर्ष और बड़ी। उसकी पारदर्शिनी सी दृष्टि घूमती थी। देखती थी, अपनी उँगलियों को, लैंप को, फिर

उसकी आँखों को। पुन: उँगलियों को, लैंप को, आँखों को। काजल की ताज़गी के नीचे आँखों की उत्सुकता ताज़ी थी। गहरी भी। जैसे नया तैराक डुबकी लगा कर तैरना सीख गया हो। मुख पर गौरवमय आह्लाद था! वह आह्लाद जो नए उत्तरदायित्व को पा कर होता है। वह मुसकराया।

राधा बोली, "आप लॉ के पहले वर्ष में हैं न?"

"हूँ तो सही, पर कभी दूसरे वर्ष मे जाने की आशा नहीं।"

"क्यों? एम० ए० में तो आप प्रथम रहे थे— पिता जी कहते थे।"

"रह गया था, पर औरों के दोष से। शेष साथी मेरे सब के सब रईसज़ादे थे, जो मेरे जितने नम्बर भी नहीं ले सके।"

"तो ऐसे ही रईसज़ादे लॉ मे भी होंगे।" वह मुसकराई।

"लॉ में प्राय सभी वकीलों की सतान हैं। बहस करके अपनी योग्यता का प्रमाण दे लेते हैं।"

इससे वह हस पड़ी। बोली, "बातें करना तो आप खूब जानते हैं।"

फिर जैसे उसे याद आया। कहा, "पहले कुछ पीजिए।"

"पानी।"

"चाय या लेमन?"

"नहीं।"

पानी आया। पानी पीकर कोई बात करने को नहीं सूझी। भोली बालिका-सी युवती से क्या बात करे, या न करे? हार कर वही विश्वनिर्धारित प्रश्न पूछ लिया "आपको गाने का तो शौक़ होगा?"

इस पर भी वह मुसकराई। बोली, "शौक़ क्या कभी कभी गुन गुना लिया करती हूँ।" वही साधारण उत्तर, जो प्राय सभी लड़कियाँ देती हैं।

उसने भी परम्परा आगे तक निबाह दी। कहा, "कभी कोई गाना सुनाइए।"

"अवश्य "वह बोली। "रविवार को आइए। नरेन्द्र भाई भी आएँगे। खूब अच्छा गाते हैं वे। मैं भी उन्हीं से सीखती हूँ।"

'भाई' शब्द के उच्चारण में कुछ भ्रातृत्व की गंध नहीं मिली। साधारणतः वह इसे यों बोल गई, जैसे यह भी कोई 'जी' की तरह का आदर व्यंजक शब्द हो। उसने महत्त्व नहीं दिया। बात आगे सरक गई।

बाबू मोतीलाल आये। तब क्या बात चल रही थी? हां, वह कह रही थी, "तुलसीदास की क्या कविता है? मैं आज तक नहीं समझ सकी कि क्या रस है तुलसीदास में? मध्यकालीन हिंदी में बिहारी की कविता सच्ची कविता है। उसमें भावना है और सौंदर्य है।"

और वह ध्यान से देख रहा था कि इस अल्पकाय नवयुवति में भावना कहाँ है, और सौंदर्य कितना है? इसीलिए उसे बोलने का अवसर भी न मिला।

बाबू मोतीलाल बोले—"यह पढ़ी कवियों और लेखकों की बातें? बताता था हिंदी में लेक्चर झाड़ा करता है। नरेन्द्र की तरह झटपट हार नहीं मानेगा।" और अपने कथन से संतुष्ट होकर हँस पड़े।

कमरे से निकलते हुए राधा की कुहनी उससे छू गई? बाहर आकर वह बोली—"आपका यथार्थवाद अभी मेरी समझ में नहीं आया। रविवार को फिर पूछूंगी। आइएगा न?

बाबू मोतीलाल बीच में ही बोले—"आइएगा क्यों नहीं? होटल के बिल भरने से घर में चाय पानी क्या बुरा है? क्यों?"

सिर हिलाकर वह चल पड़ा। मन में उत्सुकता जाग गई। यह क्या? घनिष्ठता क्यों? बाबू मोतीलाल कब से तो जानते हैं। पर परिचय दूर से अभिनादन तक का ही रहा है। आज कोई विशेष परिवर्तन तो नहीं हो गया। पहेली में पुरस्कार नहीं पाया, लोटरी नहीं निकली, इम्तहान नहीं मिली, घुड़दौड़ नहीं जीती। फिर? ऐसा

परिवर्तन क्यों ? वेशभूषा भी तो पहले जैसी है, और शरीर पर मद भी कोई नया नहीं ।

कंधे से पकड़ कर मोहन ने हिलाया। कहा—"अरे गुलनौश, यह गिलास रखा है—पी इसे। और मँगाएँ ? किस दुनिया की सैर कर रहा है तू ?"

केसरी कुछ चेतन हुआ। मोहन को देखकर उसे आश्चर्य हुआ। आँखें ज़रा उघाड़ कर बोला—अरे, तू यहाँ कैसे आ गया ?"

मोहन थोड़ा हँसा। बोला, "तो आप सचमुच ही स्वर्ग में हैं! मेरे राजा, यह परियों का देश नहीं, होटल है। मज़ा ही हजूर को यहाँ खींच कर लाया है। पर खैर, हमें आपकी अप्सराओं से कुछ नहीं लेना देना। आप मनोविहार जारी रखिए।"

फिर वर्मा की ओर मुड़कर वह बोला, "यह तो होशहवास ही पी बैठा।"

इन शब्दों ने केसरी को कुछ उत्तेजित किया। पर तुरन्त ही वह उत्तेजना दूसरे किसी भाव प्रवाह में बह गई। व्हिस्की के गिलास के चारों ओर नया मनोजाल बुना जाने लगा।

नरेंद्र !

आँखों के आगे पल भर के लिए वृद्ध कालीन पीतल की वे मूर्तियाँ आईं, जिनके आकार की श्रद्धा के कारण दुनिया उनके मैलेपन की भी पूजा करती है। यही है व्यक्ति का विश्वास, जिसकी ओट में नैतिकता का दंभ चलता है। यही है जीवन का गौरव! फिर उस दिन का अपना विचार—अजायबघर में मूर्तियों को देख कर सोचा था कि क्यों नहीं उन्हें ढाल कर ढाले-ढाले बर्तन। [illegible] जाते ? इस प्रकार भूत और वर्तमान की समस्याएँ भी हल हों। [illegible] लोग वर्तमान में क्यों नहीं जीते ? [illegible] ओर बढ़ते हुए ही दुनिया [illegible] जाती है। ऐसा क्यों ?

महत्त्व और महत्त्व की आकांक्षा! महत्त्वाकांक्षा नरेंद्र ? [illegible]

आत्मप्रदर्शन में चुस्ती रहती है। वह हर व्यक्ति के मनोनुकूल बात कहना जानता है। किसी भी उपाय से वह कार्य साधन कर सकता है। वह सफल नागरिक है।

मैंने तो 'त्यागी और शराबी' पर उसके रचनात्मक निबंध को बिना पूरा सुने आलोचना के रूप में झटपट ही कह दिया था, "आपके तर्क अच्छे हैं। अध्ययन भी सुन्दर है। पर मुझे शराब से नफरत है, और शराबियों से भी। हमारे देश के लिये ऐसे व्यक्ति घातक हैं।"

राधा ने एक पूरा व्याख्यान देकर उसका अनुमोदन किया। यही नहीं, उसके व्याख्यान ने पुरुषत्व का तिरस्कार किया। पुरुष को पशुत्व से उभारने के लिए नारीत्व के गौरव-गान में वह मुखर हो उठी। मैं सुन रहा था। राधा जैसे संकेत कर रही थी—तुम दो पुरुष हो। मैं एक नारी हूं। तुम दोनों की भूल को मैं बदल सकती हूँ। मेरे–मुझ अबला, निर्बला, जो भी कहो—तुम दोनों की आत्मता को छिन्न भिन्न कर सकती हूँ। बोलो मेरा विरोध कर सकते हो? है शक्ति तुम में?

नरेन्द्र मुस्करा कर उसे स्वीकार कर रहा था। जैसे सचमुच छिन्न-भिन्न हो ही चुका था। पर उसने उस चुनौती को स्वीकार कर लिया। उसकी आत्मता दीप्त हो उठी। वह बोलने लगा, और कहता गया—

"पुरुष में जो कुछ भी है, पुरुषत्व है। नारी का आत्मसमर्पण आत्मनिवेदन में जाकर पूरा होता है। प्रकृति के सत्य असत्य नहीं किए जा सकते। नारी उलझा हुआ रेशम का डोरा है। पुरुष उसे सुलझाता है, बुनता है, आकार देता है। नारी पुरुष की परीक्षा है, उसकी शक्तियों का संचालन, उसके अध्यवसाय का निखार। नारी में निर्बलता स्वाभाविक है। सृष्टि के आरम्भ में पुरुषों ने कोई रानाराणी सेना लेकर नारियों की लंका को नहीं जीता। नारी का

आह्वान इसी में है, समर्पण भी इसी में। नारी यदि कलात्मक है तो पुरुष है उसका कर्तव्य।"

फिर पुन राधा के तर्क—"रेशम के होने से ही तो बुनने वाले की सत्ता है नारीत्व के रहने से ही पुरुषत्व का अहंकार है। कला की कमनीयता मे ही कर्तृत्व की खोज है।"

राधा की आँखें कहती थीं कि वह सोच कर नो। रही है, असमजस उतार देने के लिए शब्दों को फेंक रही है, अनिश्चय को अस्वीकार करने के लिए ही बोलती जा रही है।

वह थक चुकी, तो उसने केवल एक वाक्य ही कहा, 'फिर भी तो सृष्टि स्रष्टा की ही है, और कला कलाकार की। इसी तरह नारी भी पुरुष की ही ह, इसमें सन्देह नहीं।"

सुन कर राधा की आँखों में एक उज्ज्वलता चमक उठी। अपनी हार को स्वीकार कर लेने मे उसने सकोच नहीं किया।

वह और भी कहता गया, "नारी के आगे पुरुषत्व नहीं, पुरुष की वासना घुटने टेकती है—उस शत्रु की तरह जो क्षमा पाकर फिर प्रहार करने का अवसर ढूँढता है।"

नरेन्द्र की आँखों का घिघियानापन वह देख रहा था। उपन्यास के पृष्ठों में नरेन्द्र की दिलचस्पी भूठी थी।

राधा ने नरेन्द्र की ओर जो नहीं देखा, इससे वह कुछ बचा रहा। अन्यथा वह दृष्टि बेचारे को उस समय कितना हीन कर देता।

कुछ क्षण मौन रहने के बाद राधा ने पूछा, "आपके लिए पानी लाऊँ ?"

"नहीं," उसने उत्तर दिया। "मैं होटल में जाकर लिमन पिऊँगा। मेरे गले की थकावट पानी से नहीं उतरेगी।"

इसने राधा की आँखों की उज्ज्वलता को पल भर में पोंछ दिया। जीवनमयी प्रतिमा में मिट्टी शेष रह गई। और नरेन्द्र ? उसने उपन्यास

को माथे पर फेंक दिया। तीखी आँखों से उसे देखा। फिर प्रश्न किया, "आप शराब पीते—?"

शब्दों पर नरेन्द्र ने कुछ ऐसा ज़ोर दिया, जैसे इतने में ही तिरस्कार पूरा कर देना चाहता हो। स्थिति में यह परिवर्तन उसे मनोरंजक ही लगा।

उसने उत्तर दिया, "जो निबन्ध मैं अभी सुना रहा था, उसमें मेरे अपने अनुभव ही हैं। जिन वस्तुओं से मैं विमुख नहीं रह सकता, उनके प्रति आत्मा को दबा कर रखना मुझे पसंद नहीं। कभी कभी मुझे पीने की ज़रूरत पड़ती ही है।"

राधा को कुछ सूझ नहीं रहा था। वह कुछ बोलना चाहती थी, पर ठीक वाक्य बनता नहीं था। वह स्थिति को किन्हीं शब्दों द्वारा समेट लेना चाहती थी। वह नरेन्द्र के देखते जिस आकाशीय स्तर तक उठ गई थी, वहाँ से अब अध गहराई में गिरी जा रही थी। असहाय स्वर में उसने आखिर पूछा, "आप बुद्धिवादी हैं। नशीले द्रव्य को आप कैसे जीवन में अपना रखते हैं? मैं इसे नहीं मानती।"

वह मुस्कराया। बोला, "मैंने झूठ नहीं कहा। शराब पीता हूँ, उसके लिए कोई तर्क मेरे पास नहीं। ढूँढ़ना चाहा भी नहीं। और मुझे बुद्धिवादी मत कहिए। मैं अपनी किसी भी बात को छिपाना नहीं जानता। मैं तो केवल स्पष्टवादी हूँ।"

अब नरेन्द्र ने राधा की ओर देखा और राधा ने नरेन्द्र की ओर। वे दोनों शायद एक समतल पर पुनः मिल कर चकित थे। कुछ देर तक कोई नहीं बोला।

फिर नरेन्द्र ने अभिभावक की सी मुद्रा में राधा से कहा, "पाँच बजे मनोज सभा में भी तो चलना है। तुम अपनी तैयारी कब करोगी?"

यह शायद उसे जाने के लिए संकेत था। उसी की बाँहों पर हाथ

आह्वान उसी में है, समर्पण भी उसी में। नारी यदि कलामय है तो पुरुष है उसका कर्तव्य।"

फिर पुनः राधा के तर्क—"रेशम के होने से ही तो बुनने वाले की सत्ता है नारीत्व के रहने से ही पुरुषत्व का अहंकार है। कला की कमनीयता में ही कर्तृत्व की खोज है।"

राधा की आँखें कहती थीं कि वह सोच कर बोल रही है, असमंजस उतार देने के लिए शब्दों को फेंक रही है, अनिश्चय को अस्वीकार करने के लिए ही बोलती जा रही है।

वह थक चुकी, तो उसने केवल एक वाक्य ही कहा, 'फिर भी तो सृष्टि स्रष्टा की ही है, और कला कलाकार की। इसी तरह नारी भी पुरुष की ही है, इसमें संदेह नहीं।"

सुन कर राधा की आँखों में एक उज्ज्वलता चमक उठी। अपनी हार को स्वीकार कर लेने में उसने संकोच नहीं किया।

वह और भी कहता गया, "नारी के आगे पुरुषत्व नहीं, पुरुष की वासना घुटने टेकती है—उस शत्रु की तरह जो क्षमा प्रार्थी होकर प्रहार करने का अवसर ढूँढता है।"

नरेन्द्र की आँखों का खिसियानापन वह देख रहा था। उपन्यास के पृष्ठों में नरेन्द्र की दिलचस्पी झूठी थी।

राधा ने नरेन्द्र की ओर जो नहीं देखा, इससे वह कुछ बचा रहा। अन्यथा वह दृष्टि बेचारे को उस समय कितना हीन कर देती।

कुछ क्षण मौन रहने के बाद राधा ने पूछा, "आपके लिए पानी लाऊँ?"

"नहीं," उसने उत्तर दिया। "मैं होटल में जाकर बियर पिऊँगा। मेरे गले की थकावट पानी से नहीं उतरेगी।"

इसने राधा की आँखों की उज्ज्वलता को पल भर में पोंछ दिया। जीवनमयी प्रतिमा में मिट्टी शेष रह गई। और नरेन्द्र? उसने उपन्यास

को सोफ़े पर फेंक दिया। तीखी आँखों से उसे देखा। फिर प्रश्न किया, "आप शराब पीते - ?"

शब्दों पर नरेन्द्र ने कुछ ऐसा ज़ोर दिया, जैसे इतने में ही तिरस्कार पूरा कर देना चाहता हो। स्थिति में यह परिवर्तन उसे मनोरंजक ही लगा।

उसने उत्तर दिया, "जो निबन्ध मैं अभी सुना रहा था, उसमें मेरे अपने अनुभव ही हैं। जिन वस्तुओं से मैं विमुख नहीं रह सकता, उनके प्रति आत्मा को दबा कर रखना मुझे पसन्द नहीं। कभी कभी मुझे नशे की ज़रूरत पड़ती ही है।"

राधा को कुछ सूझ नहीं रहा था। वह कुछ बोलना चाहती थी, पर ठीक वाक्य बनता नहीं था। वह स्थिति को किन्हीं शब्दों द्वारा समेट लेना चाहती थी। वह नरेन्द्र के देखते जिस आकाशीय स्तर तक उठ गई थी, वहाँ से अब अध गहराई में गिरी जा रही थी। असहाय स्वर में उसने आखिर पूछा, "आप बुद्धिवादी हैं। नशील द्रव्य को आप कैसे जीवन में अपना सकते हैं? मैं इसे नहीं मानती।"

वह मुस्कराया। बोला, "मैंने झूठ नहीं कहा। शराब पीता हूँ, उसके लिए कोई तर्क मेरे पास नहीं। ढूँढना चाहा भी नहीं। और मुझे बुद्धिवादी मत कहिए। मैं अपनी किसी भी बात को छिपाना नहीं जानता। मैं तो केवल स्पष्टवादी हूँ।"

अब नरेन्द्र ने राधा की ओर देखा और राधा ने नरेन्द्र की ओर। वे दोनों शायद एक समतल पर पुन मिल कर चकित थे। कुछ देर तक कोई नहीं बोला।

फिर नरेन्द्र ने अभिभावक की सी मुद्रा में राधा से कहा, "पाँच बजे संगीत सभा में भी तो चलना है। तुम अपनी तैयारी कब करोगी?

यह शायद उसे जाने के लिए संकेत था। कुर्सी की बाँहों पर हाथ

रखकर वह बोला, "आप लोगों को बाहर कहीं जाना है, यह मुझे नहीं मालूम था . ."

"मुझे आज वहाँ नहीं जाना है," राधा ने निश्चित स्वर में नरेन्द्र की ओर देख कर बीच में ही कहा।

"पर मेरा वहाँ प्रोग्राम जो है," नरेन्द्र उसके निश्चय को प्रभावित करने के लिए बोला।

"हाँ, हाँ, तुम्हारा काम है, तुम चले जाओ। मेरा जाने का मूड नहीं।" फिर उससे बोली, "आप शाम को खाना खाकर ही जाइएगा। पिताजी ने आपको बिठाए रखने को कहा था।

"नहीं, नहीं, मुझे भी एक जगह थोड़ा काम है," उसने समय बचाने के लिए छुटकारा चाहा।

"ऐसा क्या ज़रूरी जाना है? आपको तो अभी तक याद भी नहीं था। बैठिए, अभी थोड़ी देर।"

"पर . "

"पर क्या? कुछ देर के लिए जाना टाला नहीं जा सकता?"

उसने नरेन्द्र की ओर देखा, जिसके मुख पर सन्ध्या उत्तर आई थी। उससे आँख मिलते ही नरेन्द्र उठ खड़ा हुआ। कोट पहनते हुए ज़रा विमर्श पूर्वक उससे बोला, "मुझे ज़रा जाना पड़ेगा। चलिएगा संगीत सभा में?"

"कैसे चल सकता हूँ?" उसने राधा की ओर देख कर कहा।

चलने को उद्यत होकर नरेन्द्र दरवाज़े के पास पुनः रुका। मुड़कर बोला, "वड्ँस क्लब में आप जाया करते हैं?

"हाँ, कभी कभी। क्यों?"

"कुछ नहीं, यों ही पूछा। मैंने एक दिन आपको वहाँ किसी के साथ देखा था।"

कह कर नरेन्द्र ने अर्थपूर्ण दृष्टि से राधा की ओर देखा। फिर जाता हुआ बोला, "अच्छा, गुड ईवनिंग!"

"नमस्ते !" जान बूझ कर उसने व्यंग्य किया। नरेन्द्र चला गया।

नरेन्द्र के चले जाने से बीच की कड़ी निकल गई। कुछ समय तक दोनों बातचीत के लिए किसी आरम्भ को नहीं पा सके। वह राधा के असमंजस को छू रहा था और राधा अपनी उलझन को बचा रही थी। पहला प्रश्न उसने स्वयं ही किया, "मेरी किसी बात से खेद हुआ ?"

"नहीं तो। हर व्यक्ति को अपने ढंग से जीने का अधिकार है। फिर भी मैं कहती थी......"

क्या कहती थी, यही ठीक वह प्रकट नहीं कर पा रही थी। कुछ संकोच था, कुछ अनिश्चय। वह बोला, "अपने विचार प्रकट न करने को मैं पाप समझता हूँ। आप निःसंकोच कहिए। मैं स्पष्टवाद का आदर करूँगा।"

"आप शराब पीना छोड़ नहीं सकते ?" राधा ने तर्क का आश्रय छोड़कर आग्रह की शरण ली।

वह ऐसे सीधे से प्रश्न के लिए तैयार नहीं था। कुछ क्षण उसकी आँखों में देखता रहा। फिर गम्भीर होकर बोला, "नहीं।"

"नहीं ! क्यों नहीं ?"

इन शब्दों में ऐसी याचना थी कि उसके मन ने चाहा कि उसे किसी प्रकार का आश्वासन देकर संतुष्ट कर सके। पर अपने प्रति उत्तरदायित्व से वह फिसल नहीं सका। कहा, "कारण मेरी प्रवृत्ति है। किसी भावुकता या कमज़ोरी के कारण मैं नहीं पीता।"

"मान लीजिये आपके सामने कोई बहुत बड़ा प्रलोभन हो, फिर भी नहीं छोड़ सकते ?"

"नहीं, किसी प्रलोभन के कारण नहीं। हो सकता है किसी दिन मेरी अपनी प्रवृत्ति बदल जाए। पर ऐसी संभावना नज़र नहीं आती।"

वह मौन हो गई। कमरे में केवल घड़ी की टिकटिक सुनाई दे रही थी। वह स्वर राधा की दुविधा को जैसे चुनौती दे रहा था—बोल,

अब बोल ! टिकटिक, टिकटिक, एक सेकेंड, दो सेकेंड—बोल, अब बोल !

फिर भी वह बोल नहीं पाई। वह देख रहा था। जब वह बोलना चाहती, तब एक कंपन गले मे होता, दूसरा होठों पर। जब वह शब्द को पी जाती तब नासिका कांपती और भवें हिलतीं। अचानक उसका चेहरा आरक्त होने लगा। कुछ कहने के लिए वह तैयार हुई। पर उसके साथ आँखें मिलते ही पुनः मुरझा गई। शब्दों के प्रभाव का विश्वास जैसे खो गया।

वह उसे सहारा देने के लिए बोला, "मैं आपकी सहानुभूति को समझता हूँ। पर क्या करूँ, किसी की भी इच्छा के अनुकूल अपने को मैं नहीं ढाल पाता। मुझे लगता है जैसे मैं केवल अपने ही लिए जीता हूँ।"

अब वह बोली, "आपको अपनेपन का बहुत मान है शायद। किसी की सहानुभूति क्या चीज़ है, इसे समझते हैं आप—मुझे आश्चर्य है।"

"संभव है मैं ठीक नहीं समझता। फिर भी मुझे थोड़ा खेद अवश्य होता है। मैं किसी को खुश नहीं कर सकता।"

"किसी की खुशी की बात छोड़िए—आपकी अपनी खुशी क्या है ? इस तरह की उदासीनता से केवल आप अपने को धोखे में रख सकते हैं। मैं जानती हूं आप इसे स्वीकार नहीं करेंगे। यह भी उसी प्रवृत्ति का एक अंश है।"

"आपका अध्ययन गलत भी तो हो सकता है।"

"यह बात टालने का ढंग है। आप जानते हैं आपके अन्दर क्षमता है। यह भी जानते हैं कि उसका अच्छा उपयोग हो सकता है। एक ज्योति को धुंध के आवरण में रखकर आप जीवन का अपमान नहीं करते ? आपको अपना आपा बदलना चाहिए। मैं कहती हूं, आपको अपना आपा बदलना पड़ेगा।"

राधा की उत्तेजना में भी इतनी आत्मीयता आ गई थी कि वह सहमा उसका प्रतिवाद नहीं कर सका। थोड़ी देर टाई से खेलता रहा। फिर एक सिगरेट सुलगा ली। तब धीमे स्वर में बोला, "मेरे लिए परिवर्तन वही है, जो स्वयं हो जाता है। शेष जीवन की धारा है। उसके लिए पहले से कॉट-छाँट करने का अवकाश ही कहाँ है ?"

"अपने आपको नष्ट करने का अवकाश तो है।" इतना कहकर वह मौन हो गई। मर्यादा के विचार ने उसे संकुचित कर दिया।

वह घड़ी की ओर देखते हुए बोला, "छोड़िए इन बातों को कोई अच्छी बात करें। आपके यहाँ राशन की चीनी सप्ताह भर चल जाती है या नहीं ?"

बात उसने इस ढंग से कही कि राधा के गम्भीर होंठों पर भी मुस्कराहट फैल गई। घड़ी की ओर पुनः देखकर वह बोला, "अच्छा अब तो मुझे जाना ही पड़ेगा। एक कवि मित्र के साथ कॉफी पीने का वायदा है।"

"जाइए। आप किसी का अपने पर अधिकार क्यों मानें ? पर मैं इस विषय पर आप से देर तक बात करना चाहती हूँ। परसों दोपहर को आइएगा ?"

"चेष्टा करूँगा।"

"चेष्टा नहीं, अवश्य आइएगा।"

"अच्छा।"

"यदि तर्क में हार गए, तब तो मेरी बात मानिएगा ?"

"शायद ही मान सकूं। तर्क तो मदारी का पिटारा है। देखो तो दोनों ओर से खाली, फिर भी बीच में से जो मन में आए निकाल लो। खैर, परसों सही।" यह कहकर चला आया।

दो रातें कानों में उन शब्दों की गूँज रही—आत्मा की वंचना, जीवन का अपमान और आंतरिक विरोध। नहीं, जीना कौन नहीं चाहता ? पर चाह कर भी सब से जिया नहीं जाता। वह जी तो रहा

है। इतना ही सही। राह चलते धूल उड़ा ही करती है। कोई हम पर आक्षेप करे, तो यह ईर्ष्या है। ईर्ष्या नहीं, तो बेसमझी है, नासमझी है। राधा उसे सिखाएगी? फिर भी राधा की बात सुन कर मान जाने को क्यों मन चाहता है। आत्मीयता का एक आवरण क्यों ढाँक लेता है? कमज़ोरी है। ऐसी कमज़ोरी दूर करनी चाहिए। द्वितीय वर्ष की एक छात्रा उसकी जीवन दिशा को बदल देगी? अभी वह नहीं समझती। पर वह स्वयं क्या सभी कुछ समझता है?

विचार अधिक भारी हो जाते, तो वह टेबिल लैंप जला कर नीत्शे के 'जीवन दर्शन' में से अपने लिए कुछ खोज निकालने में व्यस्त हो जाता। जब ऐसा कोई वाक्य मिल जाता कि 'स्त्रियों के सम्पर्क में आओ, तो अपनी चाबुक को मत भूलो,' तो वह एक आश्वासन सा पाकर सो जाता।

फिर भी उन रातों में कोई भी आश्वासन उसे शान्ति नहीं दे सका। वह उलझा रहा, व्यस्त रहा और सोचता रहा।

फिर उस दिन निश्चित समय पर राधा के सामने जाकर क्या देखा? भावहीन अभिवादन से उसने उसे बैठाया। नरेन्द्र भी वहीं था, जिसने अधिक घनिष्ठता और सौजन्य का परिचय देने की चेष्टा की। पैराशूट के टुकड़ों से लेकर एल्सेशियन कुत्तों तक की बातें। वह उकता गया। नरेन्द्र उस उकताहट को निर्वाचनों की चर्चा से और भी भड़का कर 'मित्र बनाने की रीति' नामक पुस्तक निकालने स्टडी रूम की ओर चला गया।

राधा की बदली हुई भंगिमा की उपेक्षा करके उसने उतार फेंकने के ढंग से कहा, "आपको उस दिन कुछ कहना शेष था न? अच्छा हो, पहले वही बात समाप्त करें।"

"नहीं, वह ऐसी कोई विशेष बात नहीं," राधा ने उसी भावहीन ढंग से कहा। फिर ज़रा और गम्भीर वाणी में बोली, "एक और बात बताइएगा? यदि अधिक व्यक्तिगत हो, तो चाहे रहने दीजिएगा।"

"पूछिए।"

वह कुछ क्षण पुन रुकी। अपनी जिज्ञासा के साथ शब्दों को शायद तोला। फिर कठिनता से पूछा, "इतना जान सकती हूं श्यामा कौन है ?

प्रश्न के पीछे तीखे स्त्रीत्व का आघात था। वह उत्तर देने के लिए रुका। राह चलते पीछे से अचानक धक्का खाकर जो चोट लगती है, वैसी ही चोट इस अप्रत्याशित प्रश्न से उसे लगी। वह शीघ्र ही सम्हल गया। सीधी दृष्टि से देखते हुए बोला, "एक परिचित लड़की है। उसके विषय में आपको और क्या जानना है ?"

"एक ऐसी बात है, जो शायद आप बताना नहीं चाहेंगे।"

"ऐसी तो कोई बात नहीं। श्यामा के साथ मेरी मित्रता रही है। फिर वह अपने प्रेमी शील के साथ कराची चली गई थी। बाद में मुझे बताया गया कि मैं उसके मातृत्व के लिए उत्तरदायी हूं। मैं अभी तक ठीक नहीं जानता।"

इतने स्पष्ट शब्दों में बात सुनने की आशा राधा को नहीं थी। वह पल भर अवाक् उसे देखती रही फिर आँख हटा कर उसने धीरे से कहा, "हूँ तब तो ठीक है।"

"क्या ठीक है ?" उसने पूछा।

"कुछ नहीं," वह अचानक कृत्रिम होकर बोली, "मैं एक और ही बात सोच रही थी।"

"यह झूठ है।" वह तीव्र हो उठा, "मैं जानता हूँ यह सब जान लेने के अनन्तर आपके पास अपनी भावना, तर्क और जबान कुछ भी नहीं रहा। आप बुराई को पी सकती हैं, सच्चाई को नहीं। ठीक है न ?"

मौन द्वारा टाला जा सकना सम्भव होता, तो वह उत्तर नहीं देती। पर शब्द इतने आक्रामक थे कि उसे बोलना ही पड़ा। कहा, "आप क्रोध मत कीजिए। आप जो कुछ भी हैं, अपने लिए हैं। मैं उस दिन

भी आपको व्यर्थ में ही इतनी बातें कहती रही। मुझे कहनी नहीं चाहिए थीं।"

नरेन्द्र स्टडी रूम से किताब लेकर आया, जैसे अवसर के अनुसार रंगमंच पर प्रवेश कर रहा हो। सूत्रधार के रूप में भूमिका का वांछित परिणाम देख कर भी अनभिज्ञ सा बोला, "आज कोई वाद विवाद नहीं चला रहा है ?"

तभी वह उठ खड़ा हुआ। कहा, "मैं अब चलूँगा।"

राधा ने कुछ भी नहीं कहा। नरेन्द्र अभिनेता की सी आश्चर्य-की मुद्रा से बोला, "इतनी जल्दी ?"

"हाँ। ज़रा घूमने की तबीयत है।"

"फिर कब आ रहे हो ?" नरेन्द्र के शब्दों के व्यग्य स्पष्ट था।

"देखो, शायद कभी आ सकूँ।"

इतना कहा और चल पड़ा। चलते-चलते राधा पर दृष्टि पड़ी। वह दूसरी ही ओर देख रही थी।

बाहर आकर वह सड़क पर चलने लगा। एक चिनगारी बुझती देखी थी। उसके ज्वलंत क्षणों की कल्पना पर वह धूल बैठा लेना चाहता था। पर वह उष्णता सत्य थी। और जो शेष रही रह राख

केसरी ने सिर उठाया। गिलास में ह्विस्की अब भी शेष थी। वर्मा मोहन के कानों के पास कोई छंद गुनगुना रहा था। केसरी ने गिलास मुँह से लगाया और खाली कर दिया। फिर असंयत स्वर में बोला, "एक और—बड़ा।"

रात के बारह बज चुके थे। जब मोहन के साथ वह होटल से बाहर निकला। मोहन ने पूछा, "अरे, तू गया नहीं—तुझे कहीं जाना था न।"

केसरी बात भूल चुका था। राधा को ब्याह की बधाई देने जाने का निश्चय नशे के उन्माद में क्या जाने कब का बह गया था।

मोहन ने फिर पूछा, "किसी लड़की से तो मिलना नहीं था ?"

केसरी फूलते हुए स्वर में बोला, "लड़की ? कौन लड़की ? कोई लड़की नहीं। पत्नी। अब वह पत्नी है। समझा ? वह अब एक की पत्नी है। पत्नी का मतलब ? वह अपने लिए सोच नहीं सकती। अपने लिए बोल नहीं सकती। समझा ? वह आदर्श भारतीय नारी है।"

"आदर्श भारतीय नारी ! क्या बकता है ?" मोहन ने कहा, जैसे उसकी बेमतलब बहस का सब मतलब समझ रहा हो।

केसरी फिर बड़बड़ाया, "वह आदर्श भारतीय नारी है। समझा ? भारतीय चाय की तरह उपयोग की चीज़ है। समझा ? ऊपर सुन्दर रंग का लेबिल होता है। लेबिल के नीचे "

मोहन उसे खींच कर कार में ले चला। केसरी बोलता रहा, "लेबिल के नीचे होती हैं पत्तियाँ। काले रंग की पत्तियाँ। समझा रोज़ रोज़ पीओ। उबालो और पीओ। आदर्श भारतीय नारी। समझा ? क्या समझा ? बोल, क्या समझा ?"

कार इन दोनों को लेकर चल पड़ी।

(अप्रेल, ४८ बंबई)

लक्ष्य हीन

आधी रात जा चुकी थी। केसरी अभी जाग रहा था। चाहता था सो जाए, पर नींद आए तब न। हार कर उसने टेबिल लैंप जला लिया। फिर तकिए के सहारे बैठ कर बाहर की ओर देखने लगा।

काली अंधेरी रात है। सोते या जागते इसे बिता देना है। फिर श्वेत दिन निकलेगा। हँसी या खेद में उसे भी काट देना है। फिर ऐसी ही रात आएगी। वह भी सोकर या जागकर

ऐसा ही जीवन है। सब कुछ बदलता है, पर रात दिन का रंग नहीं बदलते। कभी दिन नीले होते, कभी सुनहरे, कभी दोरंगे, कभी सतरंगे, तो हर नए दिन को देखने की उत्कंठा बनी रहती। अब क्या है? युगों से एक ही तरह सूर्योदय होता है और एक ही तरह सूर्यास्त। जीना,मरना सब एक सा चलता है। इस सब की आवश्यकता ही क्या है?

रोशनी बुरी लगने लगी। टेबिल लैंप बुझा दिया। बेचैनी दूर नहीं हुई। नींद लाने की चेष्टा की, तो दिन की बातें मस्तिष्क में उभरने लगीं। पलकें मूंद लीं, तो आँखें झाँक कर अंदर की ओर देखने लगीं।

बात छोटी सी थी, पर बिलकुल छोटी नहीं थी। कितनी ही बातें पहले हो चुकी हैं। कौन जानता है, कितनी बातें अभी और होनी हैं? कब तक जीवन की ऐसी धारा चलती रहेगी?

पहले वह मंजुला को नहीं जानता था। आज ही दूर से वह धूमिल

नक्षत्र की तरह दिखाई दी, और आज ही यह लंबी काली छाया हृदय पर आ पड़ी।

युनीवर्सिटी के मैदान में लड़कियों के खेल हो रहे थे। दर्शकों में वह सतीश और खन्ना के बीच में बैठा था। सतीश से परिचय खन्ना ने कराया था। कुछ ही मिनिटों में वह काफी घनिष्ठता से बातें करने लगा था। सतीश के बड़े-बड़े बाल बार बार फिसलते थे, और छोटी-छोटी आँखें लगातार घूमती थीं।

"चंद्रहास के क्या माने हैं?" सतीश ने पूछा।

"चाँद की तरह हँसने वाला", उसने उत्तर दिया।

"तब तो सचमुच ही तुम्हारे बँगले का बहुत अच्छा नाम है। ऐसा ही कोई नाम मुझे भी बताओ।"

उसी समय उसने दूर आधे ब्लाउज और अधकटे बालों वाली प्रौढ़ा स्त्री को देखा, जो कुरसियाँ लाँघ कर उसी की ओर आ रही थी। अपने ढले हुए यौवन को सँभालने का उसका उत्साह देख कर हँसी भी आ सकती थी, और घृणा भी हो सकती थी।

"कोई नाम नहीं बता रहे हो?" सतीश ने फिर उससे पूछा।

"च्यवनप्राश" स्त्री पर दृष्टि जमाए हुए उसने कहा।

स्त्री निकट आती गई। सतीश के पास आकर उसने उसे कंधे से हिलाया और हँस पड़ी। सतीश ने पहचाना और अभिवादन किया। स्त्री ने पूछा, "मंजुला से नहीं मिले?"

"नहीं अभी नहीं मिला," सतीश ने कहा।

"वह घाटी रेस में भाग ले रही है," स्त्री ने अपना कंधा खुजलाते हुए कहा। "मुझे तो विश्वास है इस बार अवश्य जीत लेगी। पिछले साल दूसरी रही थी।"

वह बात तो सतीश से कर रही थी, और बार-बार देख उनकी ओर रही थी। उसकी अधेड़ शोख़ी में भी एक तरह का रस था। वह एक

दो बार ऐसा अनुभव करके रह गया जैसे कोई फीता लेकर उसे इंचों के हिसाब से नाप रहा हो।

चाटी रेस के प्रारंभ की सूचना दी गई। स्त्री वहीं उसके पास खड़ी रही। भाग लेने वाली बीस लड़कियां थीं। वे पंक्ति में खड़ी हो गईं। सीटी के साथ उन्होंने पैर बढ़ाए। सभी ओर हलचल हुई। साँवले रंग की लंबी लड़की उन में आगे निकलने लगी।

"निकल आई मंजुल!" स्त्री ने सतीश के कंधे को झकझोर कर कहा। फिर उत्तेजित स्वर में बोली, "शाबाश, मंजुल! शाबाश!"

मंजुला आगे निकलती आई। दौड़ उसने जीत ली। स्त्री प्रसन्नता के आवेश में सतीश को खींचकर साथ ले गई।

तब वह चारों ओर की भीड़ पर दृष्टि घुमाने लगा। पुरुष थे, जिनमें व्यक्तित्वहीन गंभीरता थी। स्त्रियाँ थीं, जिनमें सौंदर्यहीन प्रदर्शन था। कटे-छटे शब्द थे, लिपीपुती सजीवता।

थोड़ी देर में सतीश लौट कर आया और रुचिपूर्वक बात करने लगा। उसकी टाई हाथ में लेकर उसने रंग की प्रशंसा की और दाम भी पूछे। सतीश के कृत्रिम लहजे से प्रकट था कि वह कोई विशेष बात छेड़ने के लिये मानसिक भूमिका तैयार कर रहा है। अनुमान ठीक था। सतीश ने आखिर पुतलियाँ स्थिर कर के कहा, "मंजुला बहुत ही चुस्त लड़की है, तुम्हारा क्या ख्याल है?"

वह चुप रहा। मंजुला को दौड़ते देख कर जो विचार हृदय में आया था, उसे उसने खुलते हुए होठों के नीचे दबाए रखा।

"अभी-अभी जो यहाँ मुझसे बात कर रही थी, वह उसकी माता है," सतीश ने फिर कहा और एक तरह की मुस्कराहट खींच कर बोला, "वह तुम्हारे विषय में पूछ रही थी।"

"क्यों?" उसने अनायास कहा। वह घी सुरमे से लदी हुई आँखों की कालिमा बारबार जो उस पर छिटकती रही थी, उसका अर्थ अब उसकी समझ में आने लगा।

सतीश ने मुख की भंगिमा बनाए रखी, और यथा-भव स्वाभाविकता के साथ बोला—"कारण तुम जान लोगे। मैंने तुम्हारा परिचय दे दिया है, पता भी बता दिया है और सिफ़ारिश भी कर दी है।"

"तो कल मैं अपने प्रमाण पत्र लेता आऊँगा, वे भी उन्हें दिखा देना," उसने विनोद-पूर्वक व्यंग्य किया। साथ ही उसकी कल्पना में वह चित्र आया—सिर पर मटका रखे लम्बी लम्बी टाँगो से शुतुरमुर्ग की तरह भागती हुई मजुला !

सतीश ने उसका व्यग्य या तो छुआ नहीं या पी लिया। अपनी बात जारी रखते हुए उसने खन्ना से पूछा—"क्यों, खन्ना, मजुला के विषय में तुम्हारी क्या राय है ?"

"बहुत अच्छी लड़की है !" खन्ना ने दूर रहने के ढग से कहा।

सतीश की आँखें फिर उससे आ मिलीं। वह मुसकरा कर बोला—"लड़की अच्छी है, इसमें कोई सदेह नहीं। दूर से ही लगता है कि उसके शरीर में हर तरह के विटामिन हैं।"

सतीश कई पल मौन रहा। फिर बोला—"तुम शायद मज़ाक़ समझते हो, पर मैं गंभीरता पूर्वक बात कर रहा हूँ। मजुला इसी वर्ष ऑक्सफ़ोर्ड जाने का विचार कर रही है।"

"यह तो बड़ी अच्छी बात है !" उसने कहा। "सुना था ऑक्सफ़ोर्ड में सर्वदेशीय महिलाओं की स्वास्थ्य-प्रतियोगिता होने वाली है।"

सतीश की आँखों का घूमना बद हो गया। वह नाखून से नाखून को छीलने लगा। अन्दर से उबलते हुए शब्दों को थोड़ा चबा कर बोला—"इस तरह की बातें कहना भद्र समाज का व्यवहार नहीं, मिस्टर केसरी।"

इस साधारण व्यंग्य से छिल जाने का कोई कारण नहीं था। उसने सतीश के व्यथित मुखमंडल की ओर बिना देखे ही कहा, "यह सभय

हो सकता है। मुझे और मेरी की घटना और उसको विच्छिन्न हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं।"

यहीं तक विनोद रहा। इसके बाद बातें गम्भीर हो गईं। केवल सतीश ने ही नहीं, रत्ना ने भी उसका तिरस्कार किया। यहाँ तक कहा कि विचारों की नग्नता शरीर की नग्नता से कम नहीं—और उसका प्रदर्शन असभ्यता है। मर्यादाओं को न मानना अनाचार है, जो उन के लिए अहितकर है, समाज के लिए घातक।

खिड़की से हवा का झोंका आया। मसहरी ने करवट बदली। अन्दर बाहर अन्धकार था। रात श्यामांग थी। झींगुर बोल रहे थे।

एक ही बात भद्र समाज की सभी मर्यादाओं को तोड़ती है। एक ही स्पर्श रंगीन विद्युत रेखाओं को काला कर देता है। यदि वह चाहे, तो क्या इस भद्रता का जामा नहीं पहन सकता?

पर शिष्टता का अभिनय करना, सत्य झूठ की खिचड़ी मिलाना—क्या यह सब उसके लिए सम्भव है? यदि नहीं, तो वह भद्र नहीं बन सकता।

पर लम्बा जीवन काटना है। आज की बात ही एक बात नहीं। मनोहर, महेन्द्र, पूर्णिमा और राधा—इन सबकी चढ़ती हुई मुद्राएँ सामने आती हैं। इन सब की भृकुटियों में मेल है। यों लाञ्छन और तिरस्कार सह कर जिए जाना भी क्या संभव है? यदि नहीं, तो उसे भद्र बनना चाहिए।

वह पलंग पर सीधा होकर बैठ गया। बत्ती जलाई और चारों ओर देखा। फिर पलंग पर से उतर पड़ा।

इसी मध्य रात्रि में वह भद्रता का छद्मवेश पहनेगा। आज के बाद वह भी ढँकी हुई नालियों में गन्दे पानी के साथ घुलमिल कर बहेगा। न स्वच्छता ही रहेगी, न ठंडे ठंडे छींटे।

अँगीठी पर रखी हुई उर्वशी की वसनहीन मूर्ति को हाथ में ले लिया। गौर से उसकी स्वर्णिम आभा को पल भर देखता रहा। वह

एक कलाकार मित्र की भेंट थी। इसी की ओर संकेत करके कभी पूर्णिमा ने कमरे की सजावट पर आक्षेप किया था। मूर्त्ति को ले जाकर बाथरूम में ताक़ पर रख कर दिया। तक्ष-शिला से ली हुई गौतम बुद्ध की मूर्त्ति एक कोने में ऊँघ रही थी। उसे ला कर चिमनी पर सजा दिया।

फ्रांसीसी रमणियों के दो बड़े चित्र दीवार से उतार लिए। उन्हें उलट कर अखबारों की फ़ाइल के नीचे रख दिया। इन पर कभी प्रोफ़ेसर मित्रा ने कटाक्ष किया था। ह्विस्की की बोतल तिपाई से उठा कर सदूक में रख दी। बेटीग्रेबल का जघनचित्र मेज़ से अलमारी में रख दिया। फिर देखा—सामने पुस्तकें पड़ी थीं। उनको भी छाँटने लगा।

× × × ×

धुएँ का गोला छोटे से बड़ा हुआ, फिर बिखर गया और तब विलीन हो गया। केसरी ने मुँह से दूसरा गोला छोड़ा। वह भी कुछ पल लचकता रहा, फिर ओझल हो गया। घंटे भर से वह ऐसे ही गोले बना रहा था। उसके विचार गोलों के साथ ही साथ बन रहे थे और साथ ही साथ बिखरते जा रहे थे।

रात को वह देर से सोया था, और सवेरे देर से जागा था। खाना खाने के बाद वह सोफे पर लेट गया था। उसके मन में संघर्ष चल ... था।

वह क्या है ? कैसा है ? क्यों ऐसा है ? ऐसा तो नहीं है। फिर कैसा है ?

और जैसे संध्या का बादल कभी अप्सरा और कभी दैत्य बनकर दिखाई देता है, वैसे ही वह बदलते हुए रूपों में अपने आपको देख रहा था। समझने के लिए रुकता था, रूप और बदल जाता था, फिर बदल जाता था, फिर बदल जाता था, फिर बदल जाता था।

कबीरा आ कर दो चिट्ठियाँ दे गया। चिट्ठियाँ लेकर उसने जेब में

रख लीं, और सिगरेट पीता रहा। तीन बजे, चार बजे, साढ़े चार बजे। साढ़े चार बजे कबीरा ने चाय लाकर रखी। सिगरेट छोड़कर वह चाय पीने लगा। एक प्याला, फिर दूसरा, फिर तीसरा, फिर चौथा। शीशे में देखा बाल बिगड़ रहे हैं। उठकर बाल ठीक करने लगा।

रात को एक पुस्तक निकाल कर मेज़ पर रखी थी। वह उसे पढ़ने के लिए सोफे पर ले आया। पहले पृष्ठ पर केवल दो ही पंक्तियाँ थीं :—

'जीना एक कला है। इस बात को जानने वाला एक सफल कलाकार है।'

शब्द ! केवल शब्द ? यह शब्द ही बनाते और बिगाड़ते हैं। क्यों नहीं लेखक ने यह भी लिख दिया कि 'पैदा होना एक व्यवसाय है और इस बात को जानने वाला एक सफल व्यवसायी है।'

पन्ने पलटते पलटते पुस्तक हाथ से फिसल कर गिर पड़ी। वह उसे उठाने के लिए झुका। जेब में से दो चिट्ठियां नीचे आ पड़ीं। तो यह चिट्ठियाँ अभी तक पढ़ी ही नहीं !

एक तो निमन्त्रण का कार्ड था। छपी हुई पंक्तियों के नीचे हाथ से लिखी गई एक पंक्ति भी थी। आज 'सोनाकुटी' में रात्रिभोज है। सरोज ने उसके सहयोग की प्रार्थना की है।

सरोज का हँसमुख चेहरा आँखों के सामने आ गया। वह कॉलेज में उसकी सहपाठिनी थी। उसकी पुस्तकों पर गोलगोल अक्षरों में हस्ताक्षर किया करती थी। विवाह के बाद वह पति के साथ लंदन चली गई थी। आज वहाँ से लौट कर रात्रिभोज दे रही है।

उसने दूसरा पत्र खोला। पढ़कर आश्चर्य हुआ। अस्थिरता के क्षण में कभी कोयले की खानों के प्रबंधकपद के लिए प्रार्थना पत्र भेजा था। कलकत्ते से उसे नियुक्ति पत्र आया था। लिखा था, 'आप आगामी मास के प्रथम सप्ताह में कलकत्ते आकर अधिकार ग्रहण कर सकते हैं।'

कलकत्ता, कोयले की खानें, और खानों में काम करने वाले काले भूत ! कोयले में रंगे हुए इनसान, जो पाँच सेर कोयले का मूल्य लेकर

दिन भर कोयला ढोते हैं। उन नग्न देवताओं के बीच जाकर वह शिव तांडव करेगा?

पर ऐसा सोचना भावुकता है। सोचने की बातें हैं . मान, अधिकार, प्रशंसा और पदवी। आगे सब शून्य है, और उस शून्य ही रहना चाहिए।

× × × ×

'सोनकुटी' को बाहर से सजाया जा रहा था। केसरी वहाँ पहुँचा, तो बिखरी हुई झण्डियों का ढेर उसके लिए हटाया गया। ज़मीन पर लेटे हुए रंगीन 'स्वागतम्' के ऊपर से कूद कर उसने सरोज को देखा, जो बड़ी व्यस्तता से नौकरों को आदेश दे रही थी। उसे देखते ही वह बोली, "हलो, शर्मा, आओ। मैं सपना तो नहीं देख रही हूँ?"

"मुझे डर है कि मैं सपना देख रहा हूँ," केसरी ने उसके निकट पहुँचते हुए कहा। फिर इधर-उधर देख कर बोला, "मैं समय से पहले ही चला आया। सोचा, तुम से लंदन के जीवन की चर्चा सुनूँगा। यह विचार ही नहीं आया कि तुम प्रबन्ध करने में व्यस्त होगी।"

"अरे, नहीं, नहीं, मुझे क्या करना है। इन लोगों को थोड़ा समझा रही थी," सरोज ने गृहिणी के स्वर में कहा। "चलो, अंदर चल कर बैठें।"

केसरी ने अनुभव किया कि आज की सरोज भंडारी उस ज़माने की सरोज मेहरा से कहीं भिन्न है। वह प्राचीन भारत के शिलालेखों से उलझने वाली लड़की विलायत से वहाँ की सी वाणी सीख कर आयी है। उसके शब्द कोयल की सी कोमलता लिए हुए व्यक्त होते हैं, और उनकी ध्वनि में से भी अर्थ निकलता है—मैं हूँ ! मैं हूँ ! मैं हूँ !

गोल कमरे में आकर सरोज ने कहा, "तुम तो बिलकुल वैसे ही हो, शर्मा, जैसे दो वर्ष पहले थे। एक मिलीमीटर का भी अंतर नहीं आया।"

"तुम मुझे बदली सी लगती हो," केसरी ने कहा।

"कैसी लगती हूँ ?"

"लगती हो जैसे नया खिलौना एक रात बरसात में भीग गया हो।"

सरोज हँस पड़ी। अपने बालों को झटक कर बोली "तुम वही हो, शर्मा, बिलकुल वही। इन्हीं बातों के लिए मुझे तुम्हारी याद आया करती थी। आज मैंने सौ व्यक्तियों को निमंत्रित किया है। इन सब निन्नानवे मिलकर एक बनते हैं, और तुम अकेले एक हो।"

वह अकेला एक है, अकेला एक—यह सरोज इतना क्या नहीं देख रही है ? वह तो समुदाय में खो जाने के लिए निकला है और सरोज उसे यों सोच रही है।

"तुमने लॉ कर लिया ?" सरोज ने पूछा।

"नहीं छोड़ दिया।"

"तो आज कल क्या कर रहे हो ?"

"स्वतंत्र अध्ययन अर्थात् कुछ भी नहीं।"

"सो मैं समझ सकती हूं," सरोज ने मुसकरा कर कहा। "तुम्हारे लिये जीवनमार्ग का निश्चय कर लेना उतना आसान नहीं, जितना और लोगों के लिए है। मैं तो समझती हूं कि तुम केवल ... हो ... बन सकते हो।" उसके स्वर में भावुकता आती जा रही थी।

"ठीक है। तो मैं लंबे लंबे बाल रख लूँ और खूब प्यार मोहब्बत की बातें किया करूँ ?"

सरोज फिर हंस पड़ी। बोली, "मैं जानती हूं तुम सदा कवियों पर व्यंग्य कसा करते हो। पर फिर भी उस रूप में तुम बहुत कुछ बन सकते हो। क्या मैं कल्पना करूँ कि तुम किसी इंश्योरेंस कंपनी के मैनेजर बन जाओगे या माल पर होटल खोल कर साहबों की सेवा किया करोगे ?"

बाहर कुछ प्लेटें टूटने की आवाज आई। सरोज बीच में ही उठती हुई बोली, "ठहरो, मैं देखूँ यह लोग क्या कर रहे हैं।" और तत्परता से बाहर चली गई।

सामने बँगले की छत पर एक हवामुर्ग घूम रहा था। केसरी उसे देखने लगा। उसका मन भी हवा मुर्ग की तरह घूम रहा था। अनुभव हो रहा था कि वह स्वयं ही एक तरह का असमंजस है। अपने आप में उलझ जाता है और सुलझने के लिए हाथ पैर मारता है। पर गाँठें मजबूत हो जाती हैं। प्रयत्न छोड़ देता है, तो धागे ढीले होने लगते हैं इसमें कोई रहस्य है। और जब वह रहस्य की बात सोचता है, तो उलझन फिर बढ़ने लगती है, अंतर फिर दुखने लगता है।

धीरे धीरे उसने जेब में हाथ डाला। कलकत्ते से आया हुआ नियुक्तिपत्र निकाला और पढ़ने लगा।

दूर कहीं से मिल का भोंपू सुनाई दिया। केसरी के मस्तिष्क में उतरी कोयले की खानें, साँसों में कोयला भर के मशीनों की तरह चलने वाले मज़दूर! सूर्योदय और सूर्यास्त। लेख, व्याख्यान, सभाएँ! निर्वाचन और तालियाँ! पदप्राप्ति और शान! फिर रिश्वत कालाबाज़ार फूलों के हार और अभिनंदनपत्र!

उसे लगा, जो जामा उसने पहना था उसके बटन खुलते जा रहे हैं फिर उसने हाथ के कागज़ को देखा। उँगलियों ने कागज़ को एक ही आकार के सोलह टुकड़ों में फाड़ दिया था। वह टुकड़े उसने जेब में डाल लिए।

× × × ×

मिसेज़ वर्मा चम्मच से सूप पी रही थी। केसरी मोटे मोटे होठों में चम्मच का आना जाना देख रहा था।

दोनों एक ही मेज पर बैठे थे। सरोज उनका परिचय करा के दूसरे मेहमानों के पास चली गई थी।

मिसेज़ वर्मा ने चम्मच रख कर होंठ पोंछते हुए कहा, "आपने 'सदाचार' में मेरे लेख पढ़े हैं?"

"एक दो लेख मैंने पढ़े हैं। आपकी भाषा बहुत जानदार होती है, इसमें संदेह नहीं।" केसरी ने कहा।

मिसेज़ वर्मा के होंठ फैल गये। बोलीं—"मैं समाज का पूरा पूरा सुधार करना चाहती हूँ। जो बातें मैंने लिखी हैं, उनकी सभी ने प्रशंसा की है।"

"भाषा की प्रशंसा मैं भी करता हूँ, पर आपके विचारों से मैं सहमत नहीं," वह बोला।

मिसेज़ वर्मा ने रूमाल से माथा पोंछा और अपनी प्रौढ़ता को तराज़ू में डालकर भारी होने की चेष्टा करती हुई बोलीं—"तुम अभी नौजवान हो भाई। मैंने तुम से बीस वर्ष अधिक जीवन देखा है।"

"ठीक है, पर आपके विचार में समाज का अर्थ वर्ग है। सुधार का अर्थ एक विशेष तरह का व्यवहार है, जो उस वर्ग को अपना लेना चाहिए। वाद से आपका अभिप्राय है उस विषय में टीकाटिप्पणी। ये बहुत संकुचित धारणाएँ हैं।

मिसेज़ वर्मा जैसे अस्त्र चढ़ाती हुई बोलीं—"पहले अपने वर्ग का ही सुधार होना चाहिए। उसके बाद ही कोई दूसरा क़दम उठाया जा सकता है।"

केसरी बात नहीं सुन रहा था। उसकी आँखें कोने की मेज़ के पास जा कर रुक गई थीं। वहाँ सरोज हरी साड़ी वाली नवयुवति से हँस कर बातें कर रही थी। वह नवयुवति थी मंजुला, जिसे कल चाटी रेस में दौड़ते हुए देखा था। उधर से ध्यान हटाकर उसने मिसेज़ वर्मा की ओर देखा, फिर प्लेट बढ़ाता हुआ बोला—"केक लीजिए।"

"नहीं धन्यवाद," मिसेज़ वर्मा ने बड़प्पन बिखेरते हुए कहा। फिर कुछ रुक कर बोलीं—"आप समाजवादी हैं ?"

पर वह फिर दूसरी ओर देखने लगा था। सरोज उसकी ओर संकेत करके मंजुला से कुछ कह रही थी। मंजुला ने सीधी नज़र से उसे देखा। वह फिर मिसेज़ वर्मा से बात करने लगा। बोला—"आपने कोई पुस्तक भी लिखी है ?"

"शर्मा।" सरोज ने उसे दूर से पुकारा। उसने देखा सरोज उसे

हाथ के संकेत से अपने पास बुला रही है। यह भी देखा कि मंजुला की आँखों में एक तरह का कुतूहल है। वह गंभीर मुद्रा धारण करके उठा और मिसेज़ वर्मा से बोला—"क्षमा कीजिएगा, मैं अभी आता हूँ।"

"क्या उलझ रहे थे मिसेज़ वर्मा से ?" सरोज ने पूछा।

"कुछ नहीं, उन्हें समाज सुधारकों के हित की बात बतलाने जा रहा था," उसने बैठते हुए कहा।

"कौन सी बात ?"

"यही कि ऐसे लोगों को एक तो सवेरे उठकर सिर की मालिश करवानी चाहिए और दूसरे हर रात को सोते समय गरम दूध के साथ एक चम्मच फ्रूट-सॉल्ट ले लेना चाहिए, वरना एक तरह की बीमारी फैलने का ख़तरा है।"

"तुम तो नरमेध करते हो, शर्मा !" सरोज खिलती हुई बोली—"पहले मैं तुम्हारा परिचय कराऊँ। मंजुला देवल—एम० ए० करके ऑक्सफोर्ड जाने वाली हैं। यह शर्मा। परिचय मैं पहले ही दे चुकी हूँ।"

"मुझे आप से मिलकर प्रसन्नता हुई," मंजुला ने उसकी आँखों में देखते हुए कहा।

"मुझे आपसे यह सुनकर प्रसन्नता हुई," उसने उत्तर में कहा। मंजुला मुसकराई। बोली—"सरोज कह रही थी कि मैं ऑक्सफोर्ड जाने से पहले आप से कुछ सीख सकती हूँ।"

"मुझ से ?"

"क्यों नहीं ?" सरोज बीच में ही बोली—"मंजुला वहाँ के सामाजिक जीवन की बात पूछ रही थी। मैंने वहाँ अपनी लोकप्रियता का रहस्य इसे बतला दिया है।"

"कोई गुप्त रहस्य है ?"

"गुप्त रहस्य नहीं, चलता फिरता रहस्य है, और वह तुम हो।"

"मैं ?"

"हाँ, तुम।"

केसरी ने आश्चर्य से सरोज को देखा। सरोज के शब्द में व्यंग्य नहीं था। मंजुला उसे ध्यान से देख रही थी। जैसे किसी रोचक कहानी का अंतिम पृष्ठ पढ़ रही हो मंजुला के भरे हुऐ चेहरे पर उत्सुकता भी थी, लापरवाही भी। उसकी कजरारी आँखों में कुटिलता भी थी, मस्ती भी। वह कल की बात सोचने लगा।

सरोज कह रही थी, "कल्पित प्रेयसी के नाम शर्मा ने एक पत्र लिखा था। उसका आरम्भ था। "चलो, भाग चलें।"

मंजुला के होंठ खुल रहे थे। केसरी ने उसके दाँतों को देखा, जो बेडौल थे और एक-दूसरे में उलझ रहे थे। मंजुला को उन्हें छिपाने की चिन्ता नहीं थी। वह उत्कंठा से सरोज की बात सुन रही थी। सरोज कह रही थी, "पत्र में शर्मा ने संसार भर की भावुकता भर दी थी। लिखा था —"हम वहाँ चलें, जहाँ हमारे प्यार को हवा भी न छू सके, जहाँ तारिकाओं की चादर ओढ़ कर हम इंद्रधनुषी सपने देख सकें, जहाँ हमें यहाँ की याद दिलाने वाला कोई न हो—तुम्हारा भाई न हो, कुत्ता न हो, माली न हो।" और अंत में लिखा था—"आओ, इस दुनियाँ से दूर चलें, बहुत दूर—चलो, शाम की गाड़ी से बम्बई भाग चलें।"

सरोज बात कहती-कहती हँस पड़ी। मंजुला सुन कर हँसने लगी। और वह स्वयं भी मुस्कराए बिना नहीं रह सका।

× × ×

सोनाकुटी से बाहर आकर मंजुला ने पूछा, "आपके साथ गाड़ी है?"

"नहीं, मुझे अधिक दूर नहीं जाना है, मैं पैदल जा सकता हूँ," केसरी ने कहा।

"मेरी गाड़ी में बैठ जाइए। मैं रास्ते में छोड़ दूंगी।"

हाथ के संकेत से अपने पास बुला रही है। यह भी देखा कि मंजुला की आँखों में एक तरह का कुतूहल है। वह गंभीर मुद्रा धारण करके उठा और मिसेज़ वर्मा से बोला—"क्षमा कीजिएगा, मैं अभी आता हूँ।"

"क्या उलझ रहे थे मिसेज़ वर्मा से ?" सरोज ने पूछा।

"कुछ नहीं, उन्हें समाज सुधारकों के हित की बात बतलाने जा रहा था," उसने बैठते हुए कहा।

"कौन सी बात ?"

"यही कि ऐसे लोगों को एक तो सवेरे उठकर सिर की मालिश करवानी चाहिए और दूसरे हर रात को सोते समय गरम दूध के साथ एक चम्मच फ्रूट-सॉल्ट ले लेना चाहिए, वरना एक तरह की बीमारी फैलने का ख़तरा है।"

"तुम तो नरमेघ करते हो, शर्मा !" सरोज खिलती हुई बोली—"पहले मैं तुम्हारा परिचय कराऊँ। मंजुला देवल—एम० ए० करके ऑक्सफोर्ड जाने वाली हैं। यह शर्मा। परिचय में पहले ही दे चुकी हूँ।"

"मुझे आप से मिलकर प्रसन्नता हुई," मंजुला ने उसकी आँखों में देखते हुए कहा।

"मुझे आपसे यह सुनकर प्रसन्नता हुई," उसने उत्तर में कहा। मंजुला मुसकराई। बोली—"सरोज कह रही थी कि मैं ऑक्सफ़ोर्ड जाने से पहले आप से कुछ सीख सकती हूं।"

"मुझ से ?"

"क्यों नहीं ?" सरोज बीच में ही बोली—"मंजुला वहाँ के सामाजिक जीवन की बात पूछ रही थी। मैंने वहाँ अपनी लोकप्रियता का रहस्य इसे बतला दिया है।"

"कोई गुप्त रहस्य है ?"

"गुप्त रहस्य नहीं, चलता फिरता रहस्य है, और वह तुम हो।"

"मैं ?"

"हाँ, तुम।"

केसरी ने आश्चर्य से सरोज को देखा। सरोज के शब्द में व्यंग्य नहीं था। मंजुला उसे ध्यान से देख रही थी। जैसे किसी रोचक कहानी का अंतिम पृष्ठ पढ़ रही हो मंजुला के भरे हुऐ चेहरे पर उत्सुकता भी थी, लापरवाही भी। उसकी कजरारी आँखों में कुटिलता भी थी, मस्ती भी। वह कल की बात सोचने लगा।

सरोज कह रही थी, "कल्पित प्रेयसी के नाम शर्मा ने एक पत्र लिखा था। उसका आरम्भ था। "चलो, भाग चलें।"

मंजुला के होंठ खुल रहे थे। केसरी ने उसके दांतों को देखा, जो बड़ेबड़े थे और एक-दूसरे में उलझ रहे थे। मंजुला को उन्हें छिपाने की चिन्ता नहीं थी। वह उत्कंठा से सरोज की बात सुन रही थी। सरोज कह रही थी, "पत्र में शर्मा ने संसार भर की भावुकता भर दी थी। लिखा था—"हम वहाँ चलें, जहाँ हमारे प्यार को हवा भी न छू सके, जहाँ तारिकाओं की चादर ओढ़ कर हम इंद्रधनुषी सपने देख सकें, जहाँ हमें यहाँ की याद दिलाने वाला कोई न हो—तुम्हारा भाई न हो, कुत्ता न हो, माली न हो।" और अंत में लिखा था—"आओ, इस दुनियाँ से दूर चलें, बहुत दूर—चलो, शाम की गाड़ी से बंबई भाग चलें।"

सरोज बात कहती-कहती हँस पड़ी। मंजुला सुन कर हँसने लगी। और वह स्वयं भी मुस्कराए बिना नहीं रह सका।

× × ×

सोनाकुटी से बाहर आकर मंजुला ने पूछा, "आपके साथ गाड़ी है ?"

"नहीं, मुझे अधिक दूर नहीं जाना है, मैं पैदल जा सकता हूँ," केसरी ने कहा।

"मेरी गाड़ी में बैठ जाइए। मैं रास्ते में छोड़ दूंगी।"

गाड़ी सड़क पर लाकर मंजुला बोली, "आज का भोज तो बहुत ही सफल रहा। कम-से-कम मैं इसे नहीं भूल सकती।"

"मैं भी ऐसा ही सोचता हूं," उसने कहा।

"मैं समझती हूँ हमारा परिचय यहीं समाप्त नहीं हो जाएगा। क्यों ?"

"नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता," उसके शब्दों की ध्वनि से दोनों अर्थ निकल सकते थे।

"सरोज आपकी बहुत तारीफ़ करती है।"

वह चुप रहा। गाड़ी चली जा रही थी। वह अँधेरे में पीछे हटते हुए वृक्षों को देखने लगा। शरीर हल्का हो रहा था। चालीस मील पर चलती हुई गाड़ी की रफ्तार उसे सुस्त मालूम दे रही थी। उसे लग रहा था कि वह मंजुला के साथ रेस में दौड़ रहा है, और मंजुला उससे बहुत पीछे रहती जा रही है। हाथ कोट की जेब में चला गया कुछ कागज के टुकड़े हाथ लगे। वह उसने निकाल लिए और हवा में उड़ जाने दिए।

मंजुला के बाल उड़ कर होंठों पर पड़ रहे थे। वह जैसे तेज़ी से किसी पहाड़ से फिसल रही थी। वह शायद कल्पना कर रही थी कि आगे कहीं अंत नहीं है। कुछ क्षण एक स्वर्गीय गति लिए हुए आते हैं, और यह सोचने का अवकाश ही नहीं देते कि गति के साथ टक्कर भी हो सकता है, फिसलने के आगे खाई भी आ सकती है।

केसरी अपना रास्ता देख रहा था। चौड़ी सड़क पर आते ही उसने कहा, "मुझे दोराहे पर उतार देना। मैं वहाँ से लॉरेंस रोड पर पैदल चला जाऊँगा।"

"आप लॉरेंस रोड पर रहते हैं ?" मंजुला ने गाड़ी की गति धीमी करते हुए पूछा।

केसरी ने मौन अनुमोदन किया।

"कौन सा बँगला है आपका ?"

केसरी ने दो क्षण मौन रह कर कुछ सोचा। फिर बोला, "चन्द्रहास।"

"चन्द्रहास?" मंजुला को जैसे शतरंज के तख्ते पर शह दे दी गई हो।

"वहाँ कोई और भी रहता है?" उसने सँभलते हुए पूछा।

"किस भाग में? बंगले के कई भाग हैं?"

"यह मैं नहीं जानती। पर केसरी नाम का कोई व्यक्ति है?"

केसरी के मस्तिष्क में कल की घटना घूम गई—यूनीवर्सिटी का मैदान, खन्ना, सतीश, मंजुला की माँ और मंजुला। फिर मंजुला की ओर देख कर बोला, "आप उसे जानती हैं?"

मंजुला का रंग थोड़ा लाल हुआ, लाल से पीला, फिर ठीक हो गया। लापरवाही से वह बोली, "जानती तो नहीं, पर उसके विषय में कुछ सुना ज़रूर है।"

"क्या सुना है?"

"लोग कई तरह की बातें कहते हैं। वह कुछ सनकी है, कुछ बददिमाग और व्यवहार शून्य। आप तो अच्छी तरह जानते होंगे।"

"नहीं, इतना नहीं जानता।"

गाड़ी चौराहे पर रुकी। केसरी बाहर निकला। मंजुला बोली, "वह आपका मित्र तो नहीं?"

"क्यों?"

"सोचती हूँ कहीं आपने मेरी बात का बुरा न माना हो।"

"नहीं, वह मेरा मित्र नहीं है।"

"अच्छा है, जो आपकी उससे मित्रता नहीं है। ऐसे आदमियों से दूर रहना अच्छा है। मुझे तो ऐसे आदमियों से नफरत है।"

"अच्छा, आपको देर हो रही है।" केसरी ने बात समाप्त करने के लिए कहा।

"इतना सुन्दर समय बिताने के लिए धन्यवाद," मजुला ने उसकी आँखों मे मुस्करा कर कहा।

"गाड़ी में साथ लाने के लिए धन्यवाद," केसरी ने कहा।

"गुड नाइट!"

"गुड नाइट!"

गाड़ी आगे चली गई। केसरी पैदल चलने लगा। निर्जन और एकान्त। फैली हुई सड़क और दूर-दूर बत्तियाँ! रोशनी और छाया, रोशनी और छाया, रोशनी और छाया

(जुलाई, ४८ बम्बई)

वासना की छाया में

यह जालंधर है।

मुझे इस बात से सरोकार नहीं कि यह शहर कितना पुराना है, और यहाँ कौन कौन सी तरकारियाँ पाई जाती हैं। मेरा इस शहर मे इतना ही वास्ता है, कि मैं यहाँ हूँ और यहाँ रहते हुए इस शहर का एक नागरिक हूँ।

मैं जालंधर का नागरिक हू क्योंकि नागरिक होने के सभी कष्ट आजकल यहाँ रह कर झेल रहा हूँ। सवेरे शाम ग्राँड ट्रंक रोड की धूल फाँकता हूँ। दूध की बजाय दो आने गिलास वाली चाय पीता हूँ। घर से दफ्तर तक पहुचने के लिए एक मील पैदल चलता हूँ और दो मील बस में जाता हूँ। यही मेरी नागरिकता है। जिस नगर में यह नागरिकता ढोई जा रही है, उसका नाम है जालंधर।

अजीब है। कहते हैं कभी कोई जालंधर नाम का राक्षस था। उसने यह नगर बसाया था। बसाया होगा। मुझे क्या? न बसाया होता तो मैं होशियारपुर में रहता, लुधियाना में रहता या फगवाड़ा में ही जा बसता। जहाँ कहीं भी रहता, मेरा गढ़वाली नौकर रोटियाँ इसी तरह जलाता जैसे यहाँ रह कर जलाता है। पर खैर जी, राक्षसराज जालंधर ने यह नगर बसा दिया, और उसकी संतान ने यहाँ गलियाँ बनवाईं, गलियों में घर बनाये, घरों में सूराख रखे, जिनसे धूल मे भुनी हुई हवा छन छन कर उनके कोठरों में आती रहे, और उस हवा से गैस

लेकर वे नई नस्लों का निर्माण करते रहे, और राक्षसराज जलधर का नाम इतिहास में नहीं तो कम से कम भूगोल में ही अमर रहे।

दो तीन दिन मैं पुष्पा की बात सोचता रहा हूँ, जिसे उस दिन घर के सामने पप पर पानी भरते देखा था। पुष्पा की आँखें मोटी कौड़ियों जैसी हैं। पहले दिन उसने दो तीन बार आँख भर कर मुझे देखा, तो मुझे लगा था कि या तो मेरे बाल बहुत अधिक सफेद हो गए हैं या मैं अपनी आयु से चार पाँच साल छोटा लगता हूँ। नहीं तो कोई कारण नहीं था कि वह सहज विश्वास भरी दृष्टि से मुझे देखती मानो कह रही हो चलो, आँख मिचौनी खेलते हो?

पुष्पा की आयु तेरह साल की होगी। अधिक-से-अधिक चौदह साल होगी। उसका रंग गोरा पंजाबी है। उसके शरीर को पूरा खिलने में अभी दो तीन साल हैं। फिर भी उसकी आँखों में वह विस्मय भर गया है, जो यौवन का अर्थ पहले पहल समझने पर कुछ दिनों के लिए रहता है। उसे आश्चर्य है कि क्या वह अकेली ही जानती है कि गुलाब का रंग गुलाबी क्यों है?

"पानी ले लीजिए," पुष्पा ने अपनी बालटी हटाकर मुझ से कहा।

"नहीं तू भर ले," मैंने इस विश्वास के साथ कहा कि वह मेरे सफेद बालों का सम्मान कर रही है।

"आप को दफ्तर जाना है, भर लीजिए," उसने फिर कहा। मुझे खुशी हुई कि उसे मेरे अस्तित्व का पता है, काम-काज का पता है और उसका लिहाज़ मेरे सफेद बालों तक सीमित नहीं।

"तेरा नाम क्या है?" मैंने अपनी बालटी में पानी भरते हुए पूछा।

"पुष्पा," उसने सकोच के साथ उत्तर दिया।

"किस श्रेणी में पढ़ती है?"

वह और भी सकुचित हो गई। बिना मेरी ओर देखे बोली—"मैं स्कूल नहीं जाती।"

क्यों ?" मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी अच्छी आँखों वाली लड़की स्कूल क्यों नहीं जाती ? वैसे तो मैं किसी लड़की से लगातार तीन सवाल नहीं पूछता, क्योंकि वे इसे घनिष्ठता समझ बैठती हैं। पर पुष्पा अभी उस रेखा से दूर है, जहाँ जाकर एक लड़की मेरे लिए लड़की बन जाती है।

"मैं यहाँ नहीं रहती," पुष्पा ने कुछ इस तरह कहा जैसे मेरा प्रश्न बिलकुल असंगत रहा हो। "मैं बापू के साथ गाँव से आई हूँ। बापू को यहाँ काम है। काम हो जाए, तो फिर हम अपने गाँव चले जाएँगे।"

मैंने देखा कि उसकी आँखों ने अभी लजाना नहीं सीखा। उसके अन्दर अभी वही ताज़गी है, जो नई बहार की गोभी में होती है। वह गाँव से आई है और गाँव चली जायगी। वहाँ जाकर वह सरसों के पीले पीले फूलों से खेलेगी और मीठा नरम-नरम साग खाएगी। कोई रात को आग के पास हीर गाएगा, तो वह विभोर होकर सुनेगी। नहीं तो सरसराती हवा का गीत ही सही—वह उसके रोम रोम में नींद भर देगा। वह अपनी अँगूरी आँखों को तारों की किरणों में नहलाती हुई सो जाएगी।

सवेरे उठ कर वह पशुओं को चारा देगी। प्रभाती के गीत उसे फुसलाएँगे, तो वह नंगे पैरों नदी की ओर भाग जाएगी। वहाँ जब तक मन में आएगा, तैरती रहेगी। फिर लौटती हुई धान के खेत से मूलियाँ और शलजम उखाड़ती लाएगी। उसके गोले गाल रूखे ही सूख जाएँ, तो सूख जाएँ। उसके फूटते हुए वक्ष चाहे उसकी कमीज़ में कटोरियाँ सी निकाल दें, उसकी आँखों की माधुरी रस घोलती ही रहेगी। वह गणित के प्रश्नों में नहीं उलझेगी। वह भूगोल की रेखाएँ नहीं याद करेगी। वह कोष लेकर कविताओं के अर्थ नहीं ढूँढेगी। वह जिधर देखेगी, उधर कविताएँ बिखर जाएँगी।

अचानक मैंने देखा कि मैं पप चलाए जा रहा हूँ, हालाँकि बाल्टी

भर चुकी है और पानी इधर उधर बिखर रहा है। अपनी अन्यमनस्कता छिपाने और पुष्पा के सौजन्य का बदला चुकाने के लिए मैंने अपनी बालटी उठाई और उसका सारा पानी पुष्पा की बालटी में डाल दिया।

"कई।" मैंने उसे कहते सुना। "मेरी बालटी छू गई।"

"छू गई?" मैंने कुछ लज्जित और अपमानित होकर पूछा। यह नहीं कि मेरा पहले कहीं तिरस्कार नहीं हुआ। तिरस्कार तो प्राय हो जाता है, पर वहीं जहाँ मैं अपने तीन के पाँच करता हूँ। वहाँ मुझे तिरस्कार की आशा भी रहती है। पर उपकार के बदले तिरस्कार मुझे उतना ही चुभता है, जितना तिरस्कार के बदले उपकार।

पुष्पा ने शायद मेरे छिले हुए भाव को भाँप लिया, क्योंकि उसने क्षमा माँगने के ढंग से कहा—मैं बालटी माँज कर लाई थी। आपकी बालटी मँजी हुई नहीं थी।"

यह सुन कर मेरी आत्मा पुन. उदार हो गई। मैंने मन में दोहराया कि बालटी को राख से मला जाए, तब जाकर वह पवित्र होती है। फिर चाहे गलीज़ फ़रश पर रख कर उसमें पानी भरो, चाहे चबाई हुई दातुनों के ढेर पर।

"मेरी बालटी मँजी हुई थी। मैंने सवेरे माँजी थी," मैं झूठ बोला। झूठ बोलना मेरी आदत है। बिना कारण के झूठ बोलता हूँ। दिन में कई कई बार बोलता हूँ। यह मुझे अच्छा लगता है। मैं आप से सच कह रहा हूँ।

जो मुँह से झूठ नहीं बोलता, वह मन में झूठ बोलता है। जो मन में झूठ बोलता है, वह मुझ से ज्यादा खतरनाक है। क्योंकि वह सच का दावेदार है, इसलिए वह और भी झूठा है।

मेरे झूठ का परिणाम ठीक निकला। पुष्पा ने विश्वास नहीं किया। झूठ बोलने का सब से बड़ा लाभ यह है कि लोग उस पर विश्वास नहीं करते। पुष्पा ने मुस्करा कर बालटी का पानी गिरा दिया और

ज़मीन से मिट्टी उखाड़ कर बालटी को मलने लगी। मैं अपनी बालटी में फिर से पानी भरने लगा।

किसी ने दूर से पुष्पा को पुकारा, "पप्पी।"

"आई बापू!" उसने पुकार का उत्तर दिया।

"पानी नहीं भरा?" आवाज़ आई।

"नहीं, बापू।" उसने उत्तर दिया।

"जल्दी कर, सिरमुंडी।"

मैंने उधर देखा तो एक लंबा बूढ़ा जाट एक कोठी के बरामदे में खड़ा सिर पर पगड़ी लपेट रहा था। एक तो उसकी आवाज़ ही कर्कश थी, दूसरे उसकी सफ़ेद दाढ़ी ऐसी नोकदार थी, जैसे उसी से वह सुइयाँ झटकता रहा हो! इसकी आँखों का रंग बतलाता था कि उसने रात को खूब शराब पी थी, क्योंकि नशा अभी तक उसकी पुतलियों में तैर रहा था। पगड़ी लपेट कर उसने दाढ़ी पर हाथ फेरा और पुन पुष्पा को आवाज दी—जल्दी कर, लाड की बच्ची, नहीं तेरा झोंटा सेकूँ।"

यह देख कर कि मेरी बालटी अभी आधी भरी है, मैं जल्दी-जल्दी पंप चलाने लगा। जाट ने पीठ मोड ली। पुष्पा मेरी ओर दो कौड़ियों का एक दाँव फेंक कर मुस्कराई। उसकी मुस्कराहट ने मुझ से कहा—तुम बेवकूफ हो। बापू की गालियाँ बेटी को नहीं लगा करतीं।

उसके बाद दो तीन बार मैंने पुष्पा को देखा। न जाने क्यों उसे देख कर मुझे गहरे लाल रंग के मख़मली फूल याद आ जाते। उन फूलों को मैं बचपन में अपने कोट पर लगाया करता था।

दो-तीन बार पुष्पा के बापू को भी मैंने देखा—दातुन करते, जूड़ा बाँधते या गालियाँ बकते उसकी मुझ पर कुछ ऐसी छाप पड़ी, जैसे बरसात होकर हटी हो, और पुराने गले हुए टीन के छप्पर पर से महीनों का सूखा बीठ पानी के साथ गल-गल कर टपक रहा हो।

आज दफ्तर से लौटते हुए मैं अड्डा नकोदर से फरलाँग भर ही आया था कि मैंने देखा सफ़ेद दाढ़ी वाला वह जाट मुझ से दो क़दम हट कर साथ-साथ चल रहा है। मैं ज़रा तेज़ चलने लगा। वह भी तेज़ चलने लगा। मैंने चाल धीमी कर दी। उसने भी चाल धीमी कर दी।

मुझे यह कभी सहन नहीं कि मैं किसी के साथ चलूँ, क्योंकि जिसके साथ मैं चलता हूँ, वह अपेक्षा करता है कि मैं उसी की तरह चलूँ और उसी की तरह सोचूँ। पर कोई मेरे साथ चले तो यह मुझे भला लगता है, क्योंकि वह मेरी तरह चलता है और अपनी तरह सोचता है।

"कहाँ चल रहे हो, बाबूजी?" पुष्पा के बापू ने मेरा ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए पूछा।

"मॉडल टाउन," मैंने इस अन्दाज़ में कहा कि वह जान ले कि मैं एक महत्वपूर्ण व्यक्ति हूँ, और सिर्फ इसलिए पैदल चल रहा हूँ कि मुझे सन्ध्या के समय पैदल घूमने का शौक़ है।

"हम भी वहीं चल रहे हैं। डाक्टर गुरबख्श सिंह मदान को जानते हैं? वह हमारे ही गाँव के हैं। शहर में आकर हमारा उन्हीं के घर डेरा होता है।" फिर मेरे बराबर आकर वह बोला, "चलो राह चलते एक से दो भले।"

मैंने कहना तो चाहा कि मेरे साथ चलने से उसे चाहे लाभ हो, उसके साथ चलने में मुझे कोई लाभ नहीं, पर इसलिए नहीं कहा कि कहीं दोआब का जाट जोश में आकर मेरे सिर का पजाब बना दे।

"आप इधर के ही हैं?" जाट ने अब परिचय बढ़ाने की चेष्टा की।

"नहीं," मैंने उत्तर दिया।

"आप जालन्धर के शहर में हैं?" मेरे साथ चलते हुए जाट ने फिर पूछा। मैंने उचित समझा कि वह जितने सवाल पूछ सकता है,

इन सब का उत्तर एक साथ ही दे दूँ, ताकि उसको [illegible] ज्ञात हो जाए। इसलिए मैंने कहा —

“मैं दो महीने से यहाँ हूँ। सेक्रेटेरियट में असिस्टेंट [illegible] हूँ। वेतन एक सौ बीस रुपये है। ऊपरी आमदनी [illegible] है। अभी ब्याह नहीं हुआ। लड़की [illegible] जमातें पास की हैं। तरकारियों में मुझे भाजी [illegible] खास पसंद करता हूँ। हर इतवार को शरीर पर [illegible] करता हूँ। मेरी रोटी एक गढ़वाली पकाता है। उसकी [illegible] साल है। मेरे बरतन उसकी लड़की मलती है। उसकी [illegible] है।”

यह सब उसे सुना कर मैंने मन में कहा, अब पूछ, [illegible] पूछता है?

पर जाट ने फिर पूछा ही, “क्यों, जी, गढ़वाली ने अभी [illegible] का ब्याह नहीं किया?

यह सीमा थी। पर मैंने धैर्य नहीं छोड़ा। जहाँ [illegible] पड़े, वहाँ मैं धैर्य नहीं छोड़ता। संतोष असंतोष अपने घर [illegible] पर पीठ का दर्द जाकर डाक्टर को दिखलाना पड़ता है। मुझे अपनी आत्मा पर इस बात का गर्व है कि वह हवा [illegible] तिरछी से सीधी हो जाती है। मैंने जाट का प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक समझकर उसका स्वाभाविक सा उत्तर दिया, “उसकी लड़की विधवा है।”

“अच्छा, जी, विधवा है। फिर तो वह उसे दूसरी जगह बिठाएगा?”

मैं इतिहास का विद्यार्थी होता, तो गढ़वाली से पूछ सकता था कि वह अपनी लड़की को दूसरी जगह बिठाएगा या नहीं? पर इतिहास में मेरी रुचि तैमूरलंग की लड़ाई तक ही रही है, उससे आगे नहीं। फिर भी जाट को तो उत्तर देना ही था। उसकी मूँछों के बाल अँगड़ाइयाँ

लेने लगे थे। मैंने रास्ता काटने की नीयत से कहा, 'वह देखभाल तो कर रहा है। आगे लड़की की तकदीर है।"

"लड़की देखने में अच्छी है?" जाट ने पूछा।

"देखने में भी अच्छी है और स्वभाव की बहुत मीठी है।" मैंने यह इसलिए कहा कि कम-से-कम बात में तो रोमांस रहे।

"अच्छा, जी?" जाट बोला, "सच पूछो तो सबसे बड़ा गुण यही है। काम अच्छा करती है?"

"काम में वह सुस्त है। हाँ, बातें बहुत करती है।"

"अच्छा, जी?" जाट बोला। "रगों में जवानी हो तो काम नहीं सुझाता।"

उसकी टिप्पणी का मजा लेते हुए मैंने उसकी ओर देखा तो उसकी आँखों में भूखी बिल्ली की सी जलन थी। उसके होंठ बूढ़ी वासना की लार से गीले हो रहे थे। उसका रस भंग करने के लिए मैंने रुक कर जूतों को झाड़ा और कहा, "इन कच्चे रास्तों पर, सरदार जी, जूतों का तो कचूमर निकल जाता है।"

जाट ने मेरे अभिनय और शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया। अपनी ही धुन में कहा, "बाबू जी, आज आपके गढ़वाली से मुलाकात हो सकती है?"

"क्यों?" मैंने उसकी ओर देख कर पूछा। मुझे लगा कि वासना की लार चू चू कर जम गई है और इन्सान के आकार में धरती पर रेंग रही है। अगर इसे आग दिखा दी जाए, तो यह यहीं पिघल कर तेल हो जाए।

"मुझे एक जमींदारनी की जरूरत है, बाबू जी," जाट ने कहा। "मैं जमींदार हूँ। पास के गाँव में मेरी चार एकड़ जमीन है। पाँच एकड़ जमीन ज़िला करनाल में है। मैं यहाँ के गाँव का नम्बरदार हूँ। घर वाली मर गई है। एक जवान लड़की है। उसका ब्याह कर दूँ तो मेरी देख-भाल करने वाला नहीं। घर में एक गाय और दो भैंसें हैं। घर वाली

आ जाए तो उनका चारापानी हो जाएगा, और मेरी भी दो रोटियाँ हो जाएँगी।" फिर उसने मेरी बाँह पकड़कर मिन्नत के लहजे में कहा, "आपके गुण गाऊँगा, सरकार, मेरा यह काम ज़रूर करा दीजिए।"

वह बोल रहा था तो उसके शब्दों की गूँज अपना अर्थ मुझे और ही तरह समझा रही थी। वह कह रही थी मुझे औरत के गरम मांस की ज़रूरत है, बाबू जी। मैं बूढ़ा चाहे हूं पर मेरे अकेले के पास नौ एकड़ जमीन है। घर में गाय भैंसें और सब कुछ है, सिर्फ औरत ही नहीं है। मेरी अपनी हड्डियों पर गरम मांस नहीं रहा, पर बूढ़ी हड्डियाँ गरम मांस का चारा अब भी माँगती हैं। इनके लिए चारा चाहिए, सरकार। एक गरीब की जवानी का भुर्ता कर दीजिए।

किसी तरह गला छुड़ाने के लिए मैंने जाट से कहा—"गढ़वाली पंजाबियों के साथ ब्याह नहीं करते, सरदार जी। उसका बाप उसे किसी गढ़वाली के ही घर बिठाएगा।" मेरी बात सुनकर जाट ज़रा ढीला हो गया। उसकी मूछों के बाल, जो अब तक अंगड़ाइयाँ ले रहे थे, अब सुस्त होकर बैठ गये। वह ठंडी साँस लेकर बोला—"कहीं भी कामयाबी नज़र नहीं आती। लोग कहते थे कि रिफ्यूजी कैम्पों से मिल जाती हैं। पर मैं सवा साल से चक्कर लग-लगाकर हार गया, कोई नहीं मिली। डाक्टर साहब ने एक पहाड़न चार सौ में ठीक की थी, वह मेरा दाढ़ा देखकर मुकर गई।"

"पर तुमको तो घर की देख-भाल के लिए ही ज़रूरत है न, सरदार जी?" मैंने कहा—एक नौकर क्यों नहीं रख लेते?"

"नौकर इतना काम नहीं दे सकता, बाबू जी! ज़मींदार का घर है। चार आने वाले, चार जाने वाले। फिर सेवा के लिए एक गाय, दो भैंसें। इतना कुछ तो घरवाली ही सभाल सकती है।"

"तो तुम चाहते हो कि जवान लड़की आकर तुम्हारे गुर्दे भी ठीक करे और तुम्हारी गाय भैंसों का दूध भी दोहे?"

"वह क्यों दोहे, सरकार, वह आराम से बैठे। दूध दोहने को हम क्या मर गए हैं?"

यह उसकी सौदेबाज़ी थी। इन्सान की सौदेबाज़ी आदम के काल से यों ही चली आ रही है। धरती फल-फूल और धान उगलती है, वह उन्हें उखाड़ लेता है और सौदा करता है। धरती धातु-पत्थर छिपाकर रखती है, वह उन्हें खोद लेता है और सौदा करता है। और वह न चले, तो धरती का सौदा करता है। वह भी न चले, तो अपना ही सौदा करता है।

यह आज़माने के लिए वह अपने आप को कहाँ तक सौदे में डालता है, मैंने उपदेश के रूप में कहा, "इस उमर में कोई मिलेगी भी तो ऐसी ही मिलेगी, सरदार जी, जो पहले कई घरों में घूम चुकी हो, और जिसे दूसरा ठौर ठिकाना न हो। ऐसी को घर में डाल लोगे?"

मैंने देखा जाट की मूछों के बाल फिर अंगड़ाइयाँ लेने लगे हैं। उसने आगे बढ़कर मेरी बाँह पकड़ ली और बोला—"आपके पास है बाबूजी? ज़रूर आपके पास कोई है।"

मैंने नहीं सोचा था कि मेरे शब्दों का यह अर्थ निकल सकता है। थोड़ा भद्दा पड़कर मैंने स्पष्ट करने के लिए कहा—"मेरा यह मतलब नहीं सरदार जी, कि मेरे पास कोई है। मैं तो केवल बात के लिए बात कर रहा हूँ।"

"नहीं, बाबूजी, आपके पास ज़रूर कोई है।" जाट ने विनय और अनुरोध के साथ कहा। मेरी पगड़ी अपने पैरों पर समझो और मेरा काम करा दो। दो चार सौ मैं आपके सिर पर वार दूँगा—एक बार अपने मुँह से कह दो कि है।"

मैंने जाट को फिर सिर से पैर तक देखा। उसकी भौंह सफेद हो रही थी। आँखें छोटी होकर केवल दाग रह गई थीं। गालों का मास लटक आया था। दाँत आधे टूट चुके थे। जो दाँत शेष थे, उनकी जड़ें

में लहू रिसरिसा रहा था। बोलते-बोलते उसका थूक दाढ़ी के सफेद बालों में फैल गया था। फिर वह मुझसे विश्वास माँग रहा था कि मैं कह दूँ कि है—एक नारी है जो उसके लिए चारा बन सकती है, जो अपना यौवन राँधकर उसे खिला सकता है, क्योंकि वह ज़मींदार है और उसके घर में एक गाय और दो भैंसें हैं, उसकी हड्डियों में जितना ज़ोर है, उससे कहीं अधिक उसकी गाँठ में पैसा है।

"बोले नहीं, बाबू जी ?" जाट ने व्याकुल उत्सुकता के साथ पूछा।

"मैं किसी को नहीं जानता, सरदार जी, मैंने धीरे से उत्तर दिया।

मॉडल टाउन अब सामने ही था। पक्की सड़क पर आकर मेरी नज़र पुष्पा पर पड़ी, जो बरामदे में खड़ी शायद अपने बापू की प्रतीक्षा कर रही थी।

मुझे फिर लाल फूल याद हो आए। मैंने जाट की ओर देख कर पूछा—"तुम अभी कुछ दिन तो हमारे पड़ोसी हो न, सरदार जी ?"

"नहीं जी, हम कल गाँव जा रहे हैं," जाट ने कहा। "यहाँ अब किसके भरोसे बैठे रहें ? वहीं चलकर देखभाल करेंगे और नहीं तो बदले में तो लड़की मिल ही जायगी।"

"बदले में कैसे ?" मैंने हैरान होकर पूछा।

"गाँव का रिवाज़ है, बाबू जी। बराबर की उमर के वर हों, तो वहाँ दो घर आपस में लड़कियाँ बदल लेते हैं। मैं जाकर अपने जैसा ही कोई घर देखूँगा।"

मैंने देखा पुष्पा प्रतीक्षा कर रही है। बापू जो गाली देता है वह गाली उसे नहीं लगती। पर बापू जो गाली नहीं देता, वह गाली उसे लग रही है।

(दिसम्बर, ४८, बम्बई)

मरुस्थल

मरुस्थल—अर्थात् रेत और गुवार का देश। मगर इससे रूखा एक और भी मरुस्थल है।

बाहर हवा में एक आँधी उठ रही है। मैं चाहता हूँ कि यह आँधी इतनी बलवान् हो कि धरती की जड़ें हिल जायँ। क्या यह नहीं हो सकता? मेरे चाहने से प्रलय की करवटें बेदार नहीं हो सकतीं?

झुर्रियों वाली रेत चिलचिलाकर उड़ रही है। लगता है मानों अम्बी उम्र की बुढ़िया नंगी नाच रही हो। हवा भयंकर शब्द कर रही है—हाहाकार! हाहाकार!

उधर बेताब इन्दु करवटें ले रही है।

मैंने जब इसे पहली बार देखा तो वह नई उतरी हुई शबनम की तरह थी। आज शबनम मिट्टी में गिर चुकी है। इसकी नीमतर पल-टियाँ अब भी वही सवाल पूछती हैं

इन्दु वेश्या के गर्भ से पैदा हुई है। वेश्या की बेटी वेश्या बनकर ही जी सकती है। नहीं तो उसे जीने का अधिकार नहीं। इन्दु के अन्दर अधिकार का दावा करने की हिम्मत नहीं। वह बदल नहीं सकती। ईश्वर के जड़ कानून से इन्सान का जीता जागता कानून कहीं अधिक गहरा है। वह उसकी सुनता है जो कानों को मसल सके। इन्दु बेचारी उसे छोट भी नहीं सकती।

जोधपुर राजपूताने का बड़ा-सा शहर है, और यह बंगला शहर से

दो मील दूर है। यहाँ आठदस व्यक्ति आठदस व्यक्तियों में रहते हैं, और सब सबको जानते हैं। काम अलग-अलग होते हुए भी सब का पेशा एक है। सब फ़िल्म कम्पनी में नौकर हैं। नसीम और सकीना वेश्याएँ थीं, अब अभिनेत्रियाँ कहलाती हैं। धनपतराय भाँड से निर्देशक बन गया है। शंकर, शर्मा और लतीफ़—तीनों अभिनेता हैं। इन्दु नसीम की बेटी है। धनपतराय उसका बाप है। सकीना उसकी छोटी माँ, अर्थात् माँ की बहन।

इन्दु छटपटा रही है। नसीम घुटघुटकर रो रही है, सकीना दिलासा दे रही है, और धनपतराय अपने कमरे में शराब पी रहा है। बाकी लोग ताश खेलने में व्यस्त हैं।

मैं अकेला हूँ। मेरी अशांति बढ़ रही है। पढ़कर मन बहलाने की कोशिश बेकार है। काले अक्षरों के चरित्र मुझे नहीं भाते। कागज़ी अनुभूतियाँ बुरी लगती हैं। सामने ज़िन्दगी की किताब खुली हुई है, जिसके पन्ने अपने आप पलटते जा रहे हैं।

जब मैं पहले-पहल आया था तो यह सारा घर नसीम और सकीना के खिलखिलाहटों से गूँजा करता था। नसीम हँसती थी, जैसे खोटी चाँदी के सिक्के खनखनाए जा रहे हों। सकीना की हँसी ऐसी थी जैसे किसी भारी मोटर ट्रक को ब्रेक लगाया जा रहा हो। दोनों बहनें बरामदे में आवारा घूमा करती थीं। अब वह सिलसिला बन्द हो गया है।

इन्दु के स्वर जलतरंग की तरह हिलोरें लिया करते थे। पर आज जलतरंग की प्यालों में पानी नहीं है।

दैवयोग से धनपतराय ही इन्दु का बाप है, नसीम इस सत्य को स्वीकार कर चुकी है। माँ-बाप दोनों उसके निखरते हुए शरीर को अपने व्यवसाय का यन्त्र बनाना चाहते हैं। उनकी कामना इन्दु पर प्रकट हो चुकी है। उसकी नन्हीं आत्मा विद्रोह के लिये छटपटा रही है।

यह नौ बरस की बालिका अपने विषय में बहुत कुछ जानती है।

इन्दु का बचपन बड़े शहरों के कोलाहल और बड़े बाज़ारों की जगमगाहट में बीता है। दिल्ली और कलकत्ते में उसकी कई सहेलियाँ हैं। वह सहेलियों के बीच रहना चाहती है, और उन जैसी ही बनना चाहती है। मगर वह टिककर एक जगह रही नहीं। धनपतराय थिएटर चलाता था, नसीम थिएटर में काम करती थी, और इन्दु उनके साथ साथ भटकती थी। थिएटर बन्द करके धनपतराय ने फ़िल्म कम्पनी खोल ली। नसीम भी उसके साथ आगई। एक महीने से ये लोग जोधपुर में हैं।

मेरे कमरे का वातावरण शिथिल और, भारी है। घड़ी में केवल घंटे की सूई है, जीवन उसी सूई के हिसाब से चलता है। हर चीज़ अँगड़ाइयाँ लेती है। किताबें शेल्फ़ में सो जाना चाहती हैं, दरी बेसुध-सी ऊँघ रही है। बाहर तपी हुई बालू पर पाँव पसारे थका हुआ आकाश लम्बी जँभाइयाँ ले रहा है।

एक ही तेज झोंका सबको बेदार कर देता है। इन्दु की कराहट डूबते हुए दिल में उथल-पुथल पैदा कर देती है।

अभी उस दिन की बात है—

बाहर रेत में बवंडर उठ रहे थे, जब इन्दु ने मेरा दरवाजा खट-खटाया। रोज़ की तरह उसने इतना ही पूछा, "इन्दुबाई अन्दर आ सकती है ?" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये वह अन्दर आ गई। पीछे-पीछे एक युवक आया। इन्दु ने परिचय दिया—"गोपाल बाबू"

गोपाल ने पहले कमरे का निरीक्षण किया, फिर मुझे सिर से पैर तक देखा। अनुगृहीत करने के लिये पल भर कुर्सी पर बैठा, बड़े आदमियों की तरह दो बातें कीं और समय कम होने की शिकायत करता हुआ चला गया। इन्दु सोफे पर मेरे पास आ बैठी। बोली—"इस आदमी से हमको डर लगता है। यह हमको घूरघूरकर देखता है।"

"मैं जो तुम्हें देखता हूँ, तुम्हें मुझसे डर नहीं लगता ?" मैंने मुस्कराकर पूछा।

"नहीं यह तो ऐसे देखता है जैसे मैं कोई तसवीर हूँ। बाबू जी का दोस्त है, अम्मी के साथ घुलमिल कर बातें करता है। आज अम्मी से एक बुरी बात कहता था।"

इन्दु ने बात नहीं कही। पूछने पर धीरे से बोली—"कहता था तू धनपतराय को छोड़ दे। मैं होटल खोलता हूँ, मेरे साथ काम कर—लाखों रुपया कमायेंगे। फिर बोला इन्दु को मेरे हवाले कर दे—जो जी चाहे ले ले। मैं तो इसके थप्पड़ मारती, अम्मी सुनकर हँसती रही।"

मैंने थपथपाकर कहा—"पगली वह मज़ाक करता होगा।"

"नहीं जी, मज़ाक की बात और होती है, हमको सब पता है।" फिर आवाज़ ज़रा और धीमी करके बोली—"अम्मी वैसे हमको पीटती रहती हैं, उसके सामने ऐसी तारीफ़ करती थीं जैसे हमको बेचना ही हो।"

इन्दु ने ठीक सोचा था। सचमुच ही गोपाल ने नसीम पर डोरे डाले और वह उन डोरों में उलझ गई। गोपाल के वायल के कुर्ते में सौ-सौ के नोट चमकते थे, जिनके बल पर उसे लखपति होने का दावा था। नसीम के सौदे में उसे इन्दु को भी हथिया लेना था।

एक दिन वह पिए हुए था। मुस्कराता हुआ वह नसीम के कमरे से निकला और मेरे पास आ गया। मुझे अपने रहस्य में लेकर उसने सारी दिल की बातें उगल दीं। होटल खोलने से उसे लाखों की आमदनी का अनुमान था।

उसने मिल कारखाने चलाने के प्रोग्राम बनाए और आखिर ठण्डे पानी का गिलास पीकर चला गया। धनपतराय गोपाल की चालें समझ रहा था। वह ढीला नहीं, पचपन बरस का होकर भी अभी तक जवानी की कसम खाकर पुरुषत्व की डींग मारता है। दाव पेंच उसके मन्सूबे हैं। गोपाल को उसने अवसर दिया, मगर नसीम की लगामें खींच दीं। वह दो-चार दिन सीधी रही। गोपाल भी दूर-दूर रहा।

मगर यह खिंचाव एक षड्यंत्र था। गोपाल की योजना काम कर रही थी।

कुछ रोज इन्दु ताश के दो पैकिट मुझे दिखाने लाई। बोली—"आज बाबू जी गए हुए हैं न, अम्मी और गोपाल धीरे-धीरे बातें कर रहे हैं।"

"ताश कहाँ से लाई है?" मैंने पूछा।

"गोपाल लाया है। हमने पहले नहीं लिए तो अम्मी आँख दिखाने लगीं। वह कहता है कल छोटा पिआनो भी लाऊँगा।

"ये ताश तो बड़े मुलायम हैं।"

इन्दु खुश नहीं हुई। बोली—"चाहे कितने मुलायम हों, हम ये ताश नहीं खेलेंगे। हम पिआनो भी नहीं बजाएंगे।"

"क्यों?"

"अम्मी गोपाल के साथ बम्बई जाने की सलाह बना रही हैं।"

"सचमुच?"

"हाँ, अम्मी कह रही थीं कि पैसा नहीं है। वह बोला दो-चार साल तू आप कमा ले, फिर तेरी इन्दु लाखों की हो जायगी।"

"फिर?"

"अम्मी तैयार हो रही हैं। फिर कुछ रुक कर वह बोली—"मैं बड़ी होकर डॉक्टरी पढ़ूँगी। मेरी सहेली की बड़ी बहन डॉक्टरी पढ़ती हैं।"

भोली इन्दु कहाँ जानती थी कि वह झरने की तरह जिधर चाहे अपनी राह नहीं बना सकती। बनावटी नहर की तरह उसके लिए रास्ता पहले से ही काट दिया गया है। उसी दिशा में उसे बहना है जिधर से उसे बहाया जायगा, और उन्हीं प्रदेशों में से गुज़रना है जिधर से उस ले जाया जायगा।

कुछ रुक कर वह बोली—"अच्छा, आप बताइए मैं हिन्दू हूँ कि मुसलमान?"

"तेरा नाम क्या है ?" मैं बहलाने लगा।

"इन्दु।"

"तो तू हिन्दू है।"

"हिन्दू कैसे हूँ ? बाबूजी हिन्दू हैं, अम्मी मुसलमान। मैं न हिन्दू हूँ, न मुसलमान।"

"नहीं, तो न सही, इससे क्या होता है ?"

"अब तो नहीं होता, जब बड़ी हो जाऊँगी, तब तो होगा।"

"क्या होगा ?" मैंने उसके विचारों की तह तक पहुँचना चाहा।

"यह तो आप अपने आप समझ लें, मैं नहीं बताऊँगी।"

और उसी रात वह घटना हो गई जिसने नंगी वास्तविकताओं को परदे से बाहर कर दिया। मैं लेटा था। घड़ी की टिकटिक नीरव कमरे की साँस की तरह चल रही थी। अचानक ही उस नीरवता की छाती में एक नश्तर चुभा। नसीम की लम्बी चीख़ सारे घर में फैल गई। साथ ही धनपतराय की कर्कश आवाज़ गूंजने लगी —

"इन्दु को लेकर बम्बई जाने की तैयारियाँ कर रही है ! तेरी खाल न उधेड़ दूँ, हरामज़ादी ! नौ बरस से पाल रहा हूँ, इतना पैसा ख़र्च किया। कमाई के दिन आए तो उसे तेरे साथ भेज दूँ ! अभी निकल जा यहाँ से ! उसको साथ ले गई तो दोनों का ख़ून पी लूँगा !"

एक थप्पड़, एक और थप्पड़, एक और.

सब लोग तमाशा देखते रहे। किसी ने उठता हुआ हाथ रोकने की चेष्टा नहीं की। धनपतराय बड़बड़ाता रहा, "कहती है अपनी बेटी को लेकर जा रही हूँ। बेटी तुझे तेरे बाप ने दी थी ? आज से हाथ भी लगाया तो हाथ चीर दूँगा।"

रात भर नसीम रोती रही, मगर सुबक-सुबक कर। इन्दु सहमी-सी रात भर उसके पास बैठी रही। सकीना को धनपतराय के कमरे में रुककर उसे शराब पिलानी पड़ी। तीनों अभिनेता आखिरी शो देखने

चले गये और दिन चढ़ने तक लौट कर नहीं आये। मैं कई बार सोया और कई बार जागा।

जिस जिस ने बात की, उसे नसीम के साथ हमदर्दी थी। शंकर ने बतलाया कि थप्पड़ मार-मार थिएटर में धनपतराय कलाकारों को संवाद याद कराया करता था, मगर नसीम पर उसके हाथ पहली बार उठे थे।

योजना की विफलता ने गोपाल को निराश कर दिया। वह मेरे पास बैठ कर अध्यात्मवाद से साम्यवाद तक की चर्चा करता रहा। उसने बम्बई जाकर अभिनेता बनने का पक्का निश्चय कर लिया था। ऊटपटांग भावुकता के आवेश में वह नसीम और सकीना के पैदा होने से बच्चे पैदा करने तक की बातें बतलाता रहा। फिर बेमतलब बकते रहने के लिये क्षमा मांग कर जाता हुआ उस घर में कभी न आने की कसम खा गया।

नसीम का लापरवाही से घूमना बंद हो गया। वह तत्परता से धनपतराय के आदेशों का पालन करने लगी। आप बैठ कर खिलाती, और अपने हाथों से उसे शराब पिलाती। मगर मैंने देखा कि लिपस्टिक के नीचे उसके होंठ सूख रहे हैं। सुर्खी धोने पर गालों का पीलापन साफ झलकने लगा। विलास के ढांचे के अन्दर उसकी नारी गला घोंट रही है। अन्दर ही अन्दर घुट कर सही, अपने आपको पीकर सही, उसे केवल जीना है और वह जी रही है।

बड़ी-बड़ी आसामियों से पैसा हथियाने के लिये धनपतराय नसीम और सकीना की नुमाइश कई सालों से करता आया है। अब के वह इन्दु को भी आगे ले आया।

इतवार का दिन था। दो सेठ पान चबाते हुए ड्राइंग-रूम में बैठे थे। चाय की टेबल पर नसीम और सकीना मेज़बान थीं। इन्दु भड़कीली फ्रॉक पहने गुड़िया—सी बैठी उन लोगों को निहार रही थी। बातें चल रही थीं।

इन्दु के बाज़ार भाव पर जोर देते हुए धनपतराय अपने पितृत्व को भूल गया। सेठ लोग यों हैरानी से सुन रहे थे। जैसे कोई बाज़ीगर अपनी पुतली की ओर संकेत करके कह रहा हो—यह बोलती भी है, नाचती भी है, खाती पीती कुछ नहीं, चौबीसों घंटे काम करती है, मेरे हाथ में तार नहीं तजुर्बा है, तजुर्बा। चौबीस साल का तजुर्बा!

दो पैसे देने वाला दर्शक जब तक पुतली का खेल अपनी आँखों से नहीं देखता, बाज़ीगर की बात का विश्वास नहीं करता। बाज़ीगर मुस्करा कर पुतली को नचा देता है। धनपतराय ने एक वेरायटी शो देने का वादा किया, क्योंकि ये दोनों सेठ कंपनी में दो लाख रुपया लगा रहे थे।

नौ बरस की इन्दु बिकाऊ नहीं तो बिक्रीका साधन ज़रूर बन गई—उस परी की तरह जिसे शो केस में रख कर साड़ी पहना दी जाती है, नीचे लिख कर—आपकी पसंद। साथ ही चिट लटकती है—एक सौ साठ रुपये आठ आने।

वेरायटी शो के साथ-साथ खाने का आयोजन भी किया गया। बंगले के वातावरण में दिन भर के लिये नवीनता आ गई।

पर धनपतराय दो लाख की चिंता से परेशान था। नर्गिस और मदीना लॉटरी में अपना सब कुछ हार कर दूसरों का खेल ही देख रही थीं। बाक़ी लोग कर्तव्य अदा करके भार उतार रहे थे।

संध्या को इन्दु घुंघरू बाँधे घूम रही थी। रिहर्सल के कमरे में उसकी बार बार बुलाहट होती थी, और वह खामोश पुतली की तरह जाती और आ जाती थी। रिहर्सल के बाद में उसे अपने कमरे में आना था।

वह नृत्य के लिए सज रही थी। आसमानी रंग के रेशमी फ्रॉक में साथ करने वालों ने दुलहन जैसा बना रखा था। मगर उसका चेहरा उदास था। बड़ी-बड़ी आँखें घबराती सी रही थीं। उसके आँसुओं में

भुलाने के लिये मैंने जल्दी से कहा, "इ दु, तू तो आज बिल्कुल परी लग रही है।"

आँसू ढलक आये। सोफे की बाँह पर सिर रख वह सुबक पड़ी। मैंने थपथपाया, "पगली, रोती क्यों है?"

कोशिश करके वह बोली, "मुझे आप दिल्ली छोड़ आइए। मैं अपनी सहेली के घर रहूँगी।"

"कौन सहेली?"

"कमला है वहाँ पर मैं आज नहीं नाचूँगी।"

"क्यों? बड़े बड़े लोग तेरा नाच देखने आएँगे। तुझे इनाम मिलेंगे।"

"मैं नहीं नाचूँगी, "इ दु ने मचल कर कहा। "कमला ने भी नाच सीखा है, वह स्कूल या घर में ही नाचती है, पिताजी से इनाम लेती है। मैं कोई तमाशा हूँ?"

बच्ची का विद्रोह बोलने लग गया था, मगर वह आवाज़ मरुस्थल में गूँज रही थी। मरुस्थल जिसे अपनी प्यास के अलावा और किसी चीज़ में दिलचस्पी नहीं।

तेरी अम्मी भी तो नाचेगी।" यह सवाल का जवाब नहीं था।

आँखें पोछ कर वह बोली, "अम्मी तो थियेटर में भी नाचती थीं। पता है, लोग उनको क्या-क्या कहते हैं? मैं नाचूँगी, तो वही बातें मुझ को भी कहेंगे।"

"नहीं, नहीं, इ दुरानी को कोई भला कुछ कह सकता है?"

"कह क्यों नहीं सकता?" भीगी आवाज़ में वह बोली।" शकर आज ही शर्मा से कहता था कि बड़ी होकर वह माँ को भी मात करेगी।"

"शंकर ने कहा?"

"हाँ, और शर्मा बोला, वेश्या की औलाद है न, वेश्याओं के तो खून में ही नखरा होता है।"

थोड़ी देर में आँसू साफ करके मेरी आँखों में देखकर उसने पूछा, "आप बताइए, मैं वेश्या हूँ?"

कीच में पैदा हुई कमलिनी की तरह स्वच्छ बालिका पूछ रही थी! मैं वेश्या हूँ? मिट्टी से निकली सीता की तरह पवित्र नौ बरस की इन्दु कह रही थी—मैं वेश्या हूँ?

मैं उसे उत्तर नहीं दे सका।

उस रात देर तक चहल पहल रही। धनपतराय ने गाया, नसीम नाची, सकीना नाची। इन्दु ने पहले बादल में बिजली का नाच किया। नेपथ्य से बादलों का गर्जन होता तो वह सिमट जाती, फिर कूद कर नाचने लगती। सचमुच जैसे बिजली कौंध रही हो। एक बार वह सहमी, सिमटी और मंच के अंदर गायब हो गई। तालियों का शोर दूर दूर तक गया।

बीच इस में मैंने उस से पूछा, "इन्दु, क्या इनाम दूँ, बोल?"

"यहाँ बैठो, बस।"

नसीम मंच पर गई तो वह धीरे से बोली, "बाबू जी ने आपको मारा है।"

"क्यों, किस बात पर?"

"आखिरी रिहर्सल में पैर फिसल गया था।"

"बस इतनी सी बात पर?"

"मार कर बोले, स्टेज पर खराब करेगी तो तेरा खून पी लूँगा।"

उसने पुतलियों को फैला कर और बार बार झपक कर उमड़ते हुए आँसुओं को वापिस लौटा देने की कोशिश की। फिर बोली, "मैंने ठीक किया है न?"

"बहुत अच्छा किया है।"

[illegible] उछलने लगी।

इस बार वह परी बन कर निकली। भूत का दादा [illegible] ही मंच पर लाया। इन्दु नाची, [illegible] हुल्लड़ [illegible], [illegible],

लोग हँसते। उसका बेताला, बेसुरा गाना, उसकी सिगरेट, चश्मा, हैट और लंगोटी—लोगों का ध्यान उस पर ही रहा। इन्दु अंदर लौट आई। लोग लड़के की आखिरी चेष्टाएँ देखने में भूले रहे। इन्दु का रहा सहा उत्साह गायब हो गया।

जब उसे फूलों की रानी की तरह सजाया गया, तब वह मुझे बेजान-सी लग रही थी। सिर से पैर तक उसे फूलों से लादा गया। एक हाथ में फूलों की डाली, दूसरे में फूलों के गजरे, जैसे मधुबन की वासवी चली आई हो। सेठ लोगों के सिर हिले। धनपतराय के चेहरे पर चमक आ गई। इन्दु नाचने लगी।

बाजा बज रहा था। इन्दु के हाथ पैर चल रहे थे। मगर ताल! ताल वह भूल गई थी, उसके अंदर कोई और ही हलचल नाच रही थी। वह नाच रही थी, डगमगा रही थी, कुछ कर रही थी, कुछ हो रहा था। उसके पैर उखड़ गए, फूल गिर गए, मालाएँ बिखर गईं। इन्दु सँभली, फिसली, सँभली, फिसली और एक हलकी-सी चीख निकली।

बाजा रुक गया। पल भर लोग खामोश रहे।

अचानक धनपतराय के संकेत से बाजा जोर जोर से बजने लगा। लोग चीख उठे। जोर जोर से तालियाँ पीटी जाने लगीं।

लोग समझ रहे थे यह सब तमाशा है। मंच पर तो मौत भी तमाशा बन कर आती है। उनकी समझ में इन्दु का यों गिरना भी उन के मनोरंजन के लिए था, और वह मोरंजन का पूरा लाभ उठा रहे थे।

धनपतराय का तजुर्बा काम आ गया। वह मंच पर आया। गिरी हुई इन्दु को गोद में उठा कर उसने मुस्कराते हुए जनता को चार सलाम दिये। जैसे सचमुच तमाशा ही चल रहा था। जैसे इन्दु अभिनय ही कर रही थी। तालियों के शोर से गुदगुदाई जा कर भी जैसे पार्ट पूरा करने के लिये ही चुप थी। जिन बाँहों में वह थी,

थोड़ी देर में आँसू साफ करके मेरी आँखों में देखकर उसने पूछा, "आप बताइए, मैं वेश्या हूँ ?"

कीच में पैदा हुई कमलिनी की तरह स्वच्छ बालिका पूछ रही थी। मैं वेश्या हूँ ? मिट्टी से निकली सीता की तरह पवित्र नौ बरस की इंदु कह रही थी—मैं वेश्या हूँ ?

मैं उसे उत्तर नहीं दे सका।

उस रात देर तक चहल पहल रही। धनपतराय ने गाया, नसीम नाची, सकीना नाची। इन्दु ने पहले बादल में बिजली का नाच किया। नेपथ्य में बादलों का गर्जन होता तो वह सिमट जाती, फिर कूद कर नाचने लगती। सचमुच जैसे बिजली कौंध रही हो। एक बार वह सहमी, सिमटी और मंच के अंदर गायब हो गई। तालियों का शोर दूर दूर तक गया।

ग्रीन रूम में मैंने उस से पूछा, "इन्दु, क्या इनाम दूँ, बोल ?"

"यहाँ बैठो, बस।"

नसीम मंच पर गई तो वह धीरे से बोली, "बाबू जी ने थप्पड़ मारा है।"

"क्यों, किस बात पर ?"

"आखिरी रिहर्सल में पैर फिसल गया था।"

"बस इतनी सी बात पर ?"

"मार कर बोले, स्टेज पर खराब करेगी तो तेरा खून पी लूँगा।"

उसने पुतलियों को फैला कर और बार बार झपक कर उमड़ते हुए आँसुओं को वापिस लौटा देने की कोशिश की। फिर बोली, "मैंने ठीक किया है न ?"

"बहुत अच्छा किया है।"

वह कपड़े बदलने लगी।

दूसरी बार वह परी बन कर निकली। भूत सा काला लड़का साथ ही मंच पर गया। इन्दु नाचती, वह हुज्जत करता, मुँह बनाता,

लोग हँसते। उसका बेताला, बेसुरा गाना, उसकी सिगरेट, चश्मा, हैट और लगोटी—लोगों का ध्यान उस पर ही रहा। इन्दु अदर लौट आई। लोग लड़के की आखिरी चेष्टाएँ देखने में भूले रहे। इन्दु का रहा सहा उत्साह गायब हो गया।

जब उसे फूलों की रानी की तरह सजाया गया, तब वह मुझे बेजान-सी लग रही थी। सिर से पैर तक उसे फूलों से लादा गया। एक हाथ में फूलों की डाली, दूसरे में फूलों के गजरे, जैसे मधुबन की वासवी चली आई हो। सेठ लोगों के सिर हिले। धनपतराय के चेहरे पर चमक आ गई। इन्दु नाचने लगी।

बाजा बज रहा था। इन्दु के हाथ पैर चल रहे थे। मगर ताल! ताल वह भूल गई थी, उसके अंदर कोई और ही हलचल नाच रही थी। वह नाच रही थी, डगमगा रही थी, कुछ कर रही थी, कुछ हो रहा था। उसके पैर उखड़ गए, फूल गिर गए, मालाएँ बिखर गई। इन्दु सँभली, फिसली, सँभली, फिसली और एक हलकी-सी चीख निकली।

बाजा रुक गया। पल भर लोग खामोश रहे।

अचानक धनपतराय के संकेत से बाजा जोर जोर से बजने लगा। लोग चीख उठे। जोर जोर से तालियाँ पीटी जाने लगीं।

लोग समझ रहे थे यह सब तमाशा है। मंच पर तो मौत भी तमाशा बन कर आती है। उनकी समझ में इन्दु का यों गिरना भी उन के मनोरंजन के लिए था, और वह मोरंजन का पूरा लाभ उठा रहे थे।

धनपतराय का तजुर्बा काम आ गया। वह मंच पर आया। गिरी हुई इन्दु को गोद में उठा कर उसने मुस्कराते हुए जनता को चार सलाम दिये। जैसे सचमुच तमाशा ही चल रहा था। जैसे इन्दु अभिनय ही कर रही थी। तालियों के शोर से गुदगुदाई जा कर भी जैसे पार्ट पूरा करने के लिये ही चुप थी। जिन बाँहों में वह थी,

उन्हीं बाँहों को हिला हिला कर धनपतराय ने सलाम दिये। जनता चीखती रही, तालियाँ पीटती रही।

इन्दु की बेहोशी तो दूसरे दिन टूट गई, मगर बुखार रोज़ बरोज़ बढ़ता जा रहा है। सात ही दिनों में उसका शरीर हड्डियों के ढाँचे में बदल गया है। बुखार के दबाव में वह आँखें उघार उघार कर देखती है।

और नसीम रो रही है। सकीना दिलासा दे रही है। मगर धनपतराय का दौर अभी तक चल रहा है।

और इन्दु की खामोश आँखें बारबार मेरे सामने आ कर पूछ रही हैं 'मैं वेश्या हूँ? आप बताइए, मैं वेश्या हूँ?

मैं इन आँखों को क्या उत्तर दूँ?

(मार्च, ४७ जोधपुर)

सीमाएँ

इतना बड़ा घर है, खाने पहनने की सुविधा है, माता पिता का स्नेह है, फिर भी एक अभाव है और बहुत बड़ा अभाव है।

उमा सुन्दरी नहीं है। क्यों नहीं, भला इसका क्या उत्तर ? नाक लम्बी हो, गाल हलके हों, ठोडी निकली हो और आँखें फैली हों, तो शायद अब से अच्छी लगे। पर अब तो परिवर्तन सम्भव नहीं। शीशा देखती है, तो क्रोध घिर आता है। लगता है प्राण गलत शरीर में फंस गए हैं, और निस्तार का कोई चारा नहीं।

माँ हर रोज़ गीता पढ़ती है। वह गीता सुनती है। माँ जाए, तो वह भी कथा सुनने चली जाती है। पंडित कहता है, 'नाना प्रकार धर कर के नारद जी कहते भए, हे राजन्' मा ऊँघती है। वह गिरे हुए फूल उठा कर मसलती रहती है।

घर में दोनों समय ठाकुर जी को भोग लगता है। पिता वैष्णवों की वार्ता करते हैं। सतियों के चरित्र और दाल आटे का हिसाब, निराकार की महिमा और सोने चाँदी के भाव—वह सुन कर आश्चर्य तो प्रकट कर देती है, पर आश्चर्य में उत्साह नहीं होता।

चार वर्ष हुए मिडिल पास किया था। तब से आज तक सधिकाल का चल रहा है—विवाह प्रतीक्षा काल। माता-पिता कभी विवाह का निश्चय कर देंगे। वह पत्नी बन कर चली जाएगी। हो सकता है इसी महीने। हो सकता है दो बरस बाद।

उमा कुछ कर नहीं रही थी, पर व्यस्त थी। बैठी थी, लेट गई। फिर उठ कर टहलने लगी। फिर खिड़की से सड़क की ओर देखने लगी। देखती रही, देखती रही।

सवेरे रत्ना आई थी। कह गई थी, आज सरला का ब्याह है। छः बजे चलना होगा। साढ़े पांच पर वह लेने आएगी।

सरला के विषय में पहले भी सुना था। रत्ना ही ने कहा था, कोई उसे चिट्ठियां लिखता है, उस पर कविता करता है, और जलती दोपहरी में कॉलिज के गेट के पास उसकी प्रतीक्षा में खड़ा रहता है।

आज रत्ना कहने आई कि प्रेम फलीभूत होने जा रहा है। यह शब्द उसे गुदगुदा देता है। उमा कभी-कभी कागज पर लिखती है, पर बोल नहीं पाती। राधाकृष्ण के प्रेम की बात तो पिता भी करते हैं। उस दिव्य और अलौकिक प्रेम के बखान से वह विभोर नहीं होती। यह प्रेम—उसकी सहेली का किसी से प्रेम—मलमल के जामे सा हलका आवरण स्नायुओं को छू लेता है।

"उमा।" मां पास आई।

"हूं।"

"साड़ी पहनेगी या सूट?"

"क्यों?"

"जाना है न?"

"हाँ।"

"फिर?"

"जो मर्जी निकाल दो।'

साड़ी और सूट—उसके शरीर पर दोनों ही नहीं सजते। कीमती-से-कीमती कपड़े उसके अंगों को छूकर मुरझा जाते हैं। रत्ना खादी में भी सुन्दर लगती है। वह उस जैसी कैसे हो? आज इतने लोगों के बीच जाकर बैठना और खाना पीना है। अच्छा होता माँ मना ही कर देती। अब भी ज्वर हो आए, या सिर में पीड़ा ही होने लगे।

दुर्बलता उसे सहारा दे रही थी। शायद साढ़े पाँच बजे ही नहीं। शायद रक्षा आना ही भूल जाए। शायद आँख खुले, और यह सपना हो। सपना? कहीं से बदलता नहीं, कहीं से टूटता नहीं, फिर कैसे सपना?

माँ सफेद साटन का सूट लाई। उमा ने पहले दूर से देखा, फिर पास ला कर देखा, फिर शरीर से लगा लिया। अच्छा तो नहीं लगता। फिर और क्या? यही तो है नया। देख ले पहन कर। पहनने में क्या है?

सूट की फ़िटिंग बराबर थी। अंगों का भद्दापन व्यक्त था। यहाँ से सिकुड़ जाए, वहाँ से फैल जाए। मरने के बाद दूसरा जन्म भी होता है। उसे सरला जैसा शरीर मिले।

माँ लकड़ी का डिब्बा ले आई। यह कभी फूफी ने उसे उपहार में दिया था। पाउडर और क्रीम, लिपस्टिक और नेल पॉलिश—कितनी ही बार उसने उन्हें सूँघा था। शरीर पर प्रयोग की उसने कभी कल्पना ही नहीं की। उसने माँ की ओर देखा। माँ मुसकराई।

"ब्याह वाले घर जो जाएगी," माँ ने कहा।

"तो?"

"घड़ी दो घड़ी की ही बात है। नहीं तो लोगों में बुरा लगता है।"

"मैं?"

"नहीं तो क्या मैं?"

"पर लाला जी · · "

"वह देर से आएँगे। लौट कर साबुन से धो लेना।"

परन्तु मन का 'परन्तु' नहीं निकलता। हाँ कहे या नहीं? कह दे इच्छा नहीं। पर इच्छा तो है। फिर क्या कहे? विचार, विचारों से शब्द, शब्दों से ध्वनियाँ—कितनी मंज़िलें हैं? वह बोल नहीं सकी। माँ दूसरे कमरे में चली गई।

लिपस्टिक पिछले साल होठों के पास रख कर देखी थी। आज हलका रंग चढ़ा कर देख ले। चाहेगी तो तौलिए से पोंछ देगी।

होठों का रंग बदलने लगा। मन की उत्सुकता बढ़ने लगी। तौलिए से होंठ छिपाए। वह खिड़की तक गई, और किवाड़ बंद कर आई।

लौट कर तौलिए से होंठो को रगड़ने लगी। रंग फीका हुआ, पर उतरा नहीं। क्रीम को सूंघा। पाऊडर को भी सूंघा। मन ने प्रेरणा दी। तौलिया है, पानी है। एक मिनट में चेहरा साफ हो सकता है।

दस मिनट मे उसका रूप बदल गया। उत्सुकता परवश हो गई। तभी सीढ़ियों पर खट् खट् सुनाई दी। उमा का दिल बाहर उछलने लगा।

दरवाज़ा खुला और रचा सामने आगई। उमा अपने आप में भारी हो गई।

"तैयार है, परी रानी ?" रचा ने मुसकरा कर पूछा।

"साढ़े पाँच हो गए ?" उमा का अपराधी मन इतना ही पूछ सका। महसूस हुआ रचा मुसकराई है। उसे उसने परी रानी कहा है। कहने में चोट है, चुभती हुई चोट।

"दस मिनट हैं अभी," रचा ने कहा।

"मैं याद ही कर रही थी।" यह उमा नहीं बोली, शब्द स्वयमेव उछल आए। वह तो देख रही थी रचा का शरीर, आसमानी साड़ी, हीरे के टॉप्स और सोने की चूड़ियाँ।

माँ ने उसे अन्दर पुकारा। वह जैसे छिपने चली।

माँ के सामने मखमली डिबिया थी, और डिबिया में थी सोने की ज़ंजीर। वह उस ज़माने की थी जब माँ का अपना ब्याह हुआ था। उमा के ब्याह की कल्पना को लिए, वह वर्षों से संदूक़ में बंद थी। उमा उसे पहन कर अद्भुत-सी लगने लगी।

रचा ने आवाज़ दी। उमा बाहर चली।

"रात मंदिर में उत्सव भी है," मां ने पीछे से कहा, "जल्दी लौटे, तो दर्शन करती आना।"

वह सीढ़ियों से उतरी, और रमा के साथ चलने लगी। लगा सीमाओं से आगे जा रही है। सीमाएँ, जो अपनी हैं और स्वाभाविक हैं—मां, घर, मंदिर, उत्सव और हृदय के अन्दर घुटीघुटी चेतना।

× × × ×

यह जगमगाता हुआ घर अपना घर नहीं। अपने घर जैसा भी नहीं। यहाँ फैली हुई महक अपनी दीवारों की गंध से भिन्न है। चारों ओर मूक अकेलापन नहीं, खिलखिलाता हुआ शोर है।

एक प्रवाह है, जिस में मिली-जुली लहरें हैं। वह लहरों में लहर नहीं, तिनके की तरह है—एक ओर, अकेली।

एक घंटा हो चुका था। उमा थी और सोफे का एक कोना। रमा वहाँ आकर उलझ गई थी। यहाँ से वहाँ, वहाँ से उसके पास, उसके पास से और किसी के पास—जैसे आज के नाटक की वही नायिका हो। उमा देख लेती थी। आँख मिलने पर किसी तरह मुस्करा भी देती थी।

रमा बाहर से कुछ और लड़कियों को साथ लिए आई। उन्हें उसने उमा का परिचय दिया "उमा रानी, सीधी सच्ची बच्ची।"

विशेषण उमा को अच्छे नहीं लगे। फिर भी वह मुसकराई। रमा सब का परिचय देने लगी "कांता—जूनियर कैंब्रिज में पढ़ती है, फोटोग्राफी जानती है, कालिज के नाटक में 'पत्नी' का अभिनय कर चुकी है। कचन-गाना जानती है, कहानियाँ लिखती है, नृत्य सीखने 'कला भवन' जाती है। मनोरमा—बैडमिंटन क्लब की सैक्रेटरी है, किसी भी खिलाड़ी को मात दे सकती है।"

उन के पास करने के लिए बातें थीं। 'वह', 'उसदिन', 'वह बात'—अपने इन संकेतों के विनोद से वे हँस पड़ती थीं। उमा उन से

दूर पड़ने लगी। उसके विचार फ़रश पर अटक जाते, छत में टकराने लगते या सफ़ेद सूट पर आकर सिमट जाते।

रक्षा ने कांता से पूछा, "तूने ललिता के पति का फोटो देखा है ?"

"नहीं तो," कांता ने कहा।

"यह देख," रक्षा ने उसे दिखलाया।

"अच्छी लॉटरी है।" कांता ने देख कर कहा।

"लॉटरी क्यों, री ?" कंचन ने पूछा।

"लॉटरी ही है। माँ बाप ने निश्चय किया, लड़की ने अनुमोदन किया, परदा उठा तो देख लिया, हाथ जोड़े, नमस्कार किया—जय पतिदेव !"

हँसने में उमा ने उन का साथ दिया। पर बेमतलब की हँसी—न आंतरिक विनोद, न बाहरी गुदगुदी। उसका स्नायु-विस्तार जैसे सिला हुआ था। उघड़ना चाहता था, पर टाँके टूट नहीं पाते थे।

बात चल रही थी। विषय बदल रहा था। व्यक्तिगत आलोचना और सांकेतिक परिभाषाएं। रक्षा बात बीच में ही छोड़ कर किसी से बोली, "आइए, भाई साहब, लाए हैं आप अपनी कविता ?"

उमा ने पास आते हुए नवयुवक को देखा। वह बोला, मानती भी हो ? मेरी कविता मुझे छोड़ कर भाग गई।"

"कल को आप भी न कहीं भाग जाएँ" रक्षा अधिक घनिष्ठता से बोली।

"कल की कौन जानता है।" कह कर उसने सब पर उपेक्षापूर्ण दृष्टि डाली। फिर बोला, "चलो सरला बुलाती है।"

रक्षा चली गई। कांता कंचन को बताने लगी कि लड़के का नाम मोहन है। सरला का चचेरा भाई है। एम० ए० फाइनल में पढ़ता है। उमा ने अधिक सुनने की आशा की। पर कांता बात बीच में ही छोड़ कर मनो की साड़ी के फ़ीते की प्रशंसा करने लगी।

मनो का फ़ीता सुन्दर था। उसके बालों में सोने का पिन था, और नीले रंग के फूल। उसके ब्लाउज़ का पारदर्शक कपड़ा बिजली के प्रकाश में किरणें छोड़ता था। कंचन उसके कान में कुछ कहने लगी। उमा की आँखें झट दूसरी ओर मुड़ गईं।

सामने दो स्त्रियां बैठी थीं। उसी की ओर देखकर वे कोई बात कर रही थीं। उमा सोच कर रह गई। वे उसकी आलोचना तो नहीं कर रहीं? तभी तो देखती हैं। नहीं तो क्यों?

"बाहर चलती हो?" मनो ने पूछा।

"रत्ना किधर होगी?" पूछकर उमा ने स्वयं ही भद्दापन सा अनुभव किया।

"पता नहीं, देखती हूँ।" कह कर मनो उठ पड़ी। कंचन और कांता भी। तीनों बाहर चली गईं।

उमा फिर अकेली पड़ गई। उसके मन का बोझ बढ़ने लगा। अपरचित लोगों की उपस्थिति, चहल-पहल और सजावट—यहाँ कुछ भी उसके अनुकूल नहीं था। जगह सुनसान होती, अमा का अँधेरा चारों ओर जंगल, और मौत की सी नीरवता, तो निश्चय ही वह अब की अपेक्षा सुखी होती। पर यहाँ यह छेड़छाड़, खुलबुलाहट, दौड़धूप

कमरा कहकहों से गूंज उठा। उमा चौंकी। सभी लोग हँस रहे थे। हँसने की बात हुई थी। सोचा हँस दे या नहीं? पर यदि उसी के विषय में कोई बात की गई हो, फिर?

स्वर बैठ गया। उसकी चुप्पी लक्षित की गई थी। उसे पश्चाताप हुआ। हँसना अवश्य चाहिए था। लोग भला क्या सोचते होंगे?

वह पहले आई ही क्यों? मना क्या नहीं कर दिया। आकर यहाँ है, व्यर्थ सी, शून्य सी, असंगत सी।

तभी कहा गया कि बरात आ रही है। कमरे की स्फूर्ति चौगुनी हो गई। कोलाहल होने लगा।

"आओ बाहर।"

"माधवी, ओ माधवी।"

"हाए, मेरा लाल कमाल!"

"रोती है तो रोने दे।"

"नीना रानी, ले बिस्कुट।"

"मौली है न, पंडित जी?"

"देखो, पीछे कितने हैं?"

"रूई, फूल, धूप, मेवा।"

"मोहनलाल, मोहनलाल!"

"देखा, री?"

"लंबा है।"

"आ, मिट्ठू आ, बेटा!"

"जान लेले तू बाबू जी की!"

एक के बाद एक लोग कमरे से निकलते गए। कोई किसी को स्नेह से ले गया, कोई किसी को आग्रह से। शेष रह गई उमा, और उसके चारों ओर अकेलापन।

पहले अनुभव में उसे सान्त्वना मिली। दूसरे अनुभव में व्यथा हुई। तीसरे अनुभव में आत्मीयता दीप्त हुई। चौथे अनुभव में मुरझा कर रह गई। उसने उठ कर चली जाना चाहा। पर न उठ सकी, न जा सकी।

बाहर बैंड बज रहा था। कोलाहल बढ़ रहा था। अंदर समय के क्षण लंबे होते जा रहे थे, हृदय की गति मध्यम पड़ती जा रही थी। तभी अचानक रक्षा ने वहाँ प्रवेश किया।

उमा बैठी रही। उसने सिर दर्द बताने का निश्चय कर लिया था। रक्षा ने पूछा, "क्यों, रानी, रूठ गई है क्या?"

"नहीं मैं, "

"चल न बाहर। अभी दूल्हा के साथ एक तमाशा होने वाला है।"

रुपा ने उसे बात कहने का अवसर नहीं दिया और बाँह पकड़ कर उठा दिया। दूसरी बार बोलने का निश्चय करने से पहले वह रुपा के साथ बाहर पहुँच गई। बाहर कंचन, मनो, कांता ने घेर लिया। सब के साथ सरला के कमरे में गई। सरला को देखा। फूलदार जॉरजेट की साड़ी, मोतियों के गहने, गुलाब-सी त्वचा और मीठी मीठी खुशबू। सरला बोली, तो वह उसके होंठों की सिलवटें ही देख सकी। स्वर बाहर के कोलाहल में डूब कर रह गया।

× × ×

काँटा निकल जाने पर उसका आभास सा बना रहता है। चुभता हुआ अनुभव उमा के अन्दर अब भी था, यद्यपि सरला का घर पीछे था और वह अपने घर की ओर जा रही थी।

आज वह है, और नीचे दो पाट हैं। ऊपर है रुपा, सरला, कांता, कंचन और मनोरमा का जीवन। वे कीमे के समोसे खाती हैं, युवकों के हाथ पकड़ कर घूमती हैं, और अपरिचित लोगों के बीच भी घुल-मिल जाती हैं। नीचे वे दीवारें हैं, जिनमें सटी हुई खिड़की के पास सवेरे धूप आती है और दोपहर को अँधेरा होने लगता है, जिनकी ओट में पूर्णिमा और एकादशी के व्रत होते हैं, जिनके घेरे में कुलीनता की परिभाषा बनती है।

दोनों के बीच वह दब रही है, टूट रही है, पिस रही है, एक घर से आ रही है, जिसको निकट से देखने का साहस नहीं। एक घर की ओर जा रही है, जिसके अन्दर पैर रखने का उत्साह नहीं।

मन्दिर की घंटियाँ सुनकर उसे माँ की बात स्मरण हो आई। आज मन्दिर में उत्सव है। ठाकुर जी के दर्शन करने चाहियें।

मन्दिर में स्तोत्र का पाठ हो रहा था। वह अन्दर चली गई और स्त्रियों की पंक्ति में हाथ बाँधकर खड़ी हो गई। आँखें मूद कर लय में शब्दों का अनुकरण करने लगी। "जय पीतांबरधर वर सुन्दर, जय जगसुखदाता, जय-जय जग सुखदाता... "

सामने आया रमा का खिलखिलाता हुआ चेहरा। मोहन की लम्बी-लम्बी आँखें, और कितनी ही आकृतियाँ। एक के बाद एक....नहीं, "मोर मुकुट, अधरों पर मुरली, कटि पर पीताम्बर"...वे व्यंगपूर्ण दृष्टियाँ, उपेक्षा भरी मुद्राएं, सोफे का कोना, जोर से बजता हुआ बाजा "दीन बन्धु करुणामय...", हिलता हुआ पर्दा, पर्दे के पीछे बिजलियाँ, बिजलियों के नीचे रमा, मोहन, सरला और दूल्हा..

उमा ने आँखें खोल लीं। स्वर चारों ओर घूम रहा था। वह वर्षों से सुनती चली आई है। स्वर भी वही है, शब्द भी वही हैं, पर उसका अंतःकरण बदला-सा है। वह आज कुछ और हो गई है।

तभी उसकी आँखें एक जगह टकरा कर लौट आईं। भीड़ में एक नवयुवक उसकी ओर देख रहा था।

उसके शरीर में लहू अधिक भरने लगा। हृदय को किसी ने चाबुक मार दिया। आँखें केले के खंभों से उतर कर, सजी हुई सामग्री पर से फिसलती हुई फिर वहीं टकराईं। वह अब भी देख रहा था।

उमा के पैरों का संतुलन खो गया। भक्त जनों की भीड़ में वह किसी तरह बाहर पहुँच गई। बाहर अपने सैंडल ढूंढे। फिर घर की ओर चल पड़ी। आँखों ने डरते-डरते जिसे देखना चाहा था, वह उन्हें दिखाई नहीं दिया। उसे लगा, किसी कहानी का पहला वाक्य सुनकर शेष कहानी को बीच में ही छोड़ आई है। मन मे उत्सुकता बनी हुई है, परंतु..

घर की ड्योढ़ी में उसने पैर रखा। एकदम जैसे भूतकाल में पहुच गई। सीढ़िया चढ़ी। मां ने देखते ही पूछा, "मन्दिर हो आई?"

'हाँ, उसके होठों तक आकर लौट गई। किसी अज्ञात प्रेरणा ने कहला दिया, "नहीं।"

"नहीं? मैंने कहा नहीं था आज मन्दिर में उत्सव है?" मां ने तिरस्कार किया।

"अब जाती हूँ," कहकर उमा लौट पड़ी।

"अब कपड़े तो बदल ले ।"

"अभी आकर बदलती हूँ ।"

और सीढ़ियाँ उतरकर वह ड्योढ़ी में बाहर आ गई ।

मन्दिर की दहलीज पार करके उसने ठाकुरजी की ओर नहीं देखा। पाप-पुण्य के विधाता से वह आँख नहीं मिला सकी। उसे शायद विश्वास था कि दूर रहने से भीड़ में देवता भी उसे नहीं देखेगा।

स्तोत्र चल रहा था। लोग आ-जा रहे थे। वह कई पल अपराधिनी सी खड़ी रही। फिर साहस करके पुजारी से चरणामृत लिया। पर उसे लौटकर आने के लिये खेद हो रहा था। वह बाहर की ओर चली। भीड़ में किसी का हाथ उससे छुआ। उमा ने देखा। वही दो आँखें—काली-काली डोरेदार आँखें।

स्तोत्र का स्वर मशीन के घरघर स्वर जैसा हो गया। देवता की मूर्त्ति, पत्थर की गोपियाँ, मिट्टी के श्याम और कपड़े के तोते—सब धुंधले होने लगे। आकाश बोझिल हो गया। धरती समतल नहीं रही। दिशाएं एक-दूसरी से मिलकर ओझल होने लगीं। प्रकाश रंग बदलने लगा। वह भीड़ में यों ही गई जैसे रुके हुए पानी में अस्तव्यस्त हाथ-पैर मार रही हो। केवल इतना ज्ञान रहा कि एक हाथ उसे छू रहा है—यहाँ बाजू के पास, यहाँ कंधे के पास, यहाँ ।

वह आती हुई दो स्त्रियों में उलझ गई। किसी तरह संभली। बाहर पहुँच कर हवा का स्पर्श विचित्र-सा लगा। लहू, जो नाड़ियों में जम गया था, अब ऊपर नीचे सरसराने लगा। कंधे के पास वह स्पर्श अभी तक सजीव था।

कितने विचित्र क्षण थे ? कितने असाधारण। अब उसकी आत्मा भरपूर है। आज उसके पास भी एक कहानी है। वह खुलकर रमा के साथ खिलखिला सकती है। मचल कर उससे कह सकती है—"तू नहीं जानती।'

सत्य का विश्वास कर लेने के लिये उमा का हाथ कंधे के उसी भाग की ओर बढ़ा। वह स्पर्श अपनी कोई छाप अवश्य छोड़ गया था।

अचानक वह चलती-चलती रुक गई। उसका शरीर पसीने से भीग गया। अँधेरे में गहरे-गहरे रंग फैल गए। स्पर्श का आभास तो वहाँ था, पर सोने की जंजीर गले में नहीं थी। वह थी वंचिता, और सामने थीं घर की निश्चल दीवारें।

(अक्तूबर ४८ बंबई)

मिट्टी के रंग

मैथिलोन ने अनन्नास का टुकड़ा जबान में घुलाते ही मुँह बिचका कर कहा, 'किसी काम का नहीं। पैसा लेकर पैसे का मूल्य देना ये इजिप्शियन लोग नहीं जानते। सूप था तो वह गरम पानी, रोटी थी तो वह कंकर की, माँस जाने कुत्ते का था या लोमड़ का, और अब आखिरी कोर्स में यह ठुसा हुआ अनन्नास! धन्य रे पिरामिडों के देश!'

मैथिलोन के मुख की भंगिमा देख कर सदानन्द मुस्कराया। उसे अनन्नास की बजाय उस समय अपनी पतलून की लकीर का अधिक ध्यान था। खाने की बात को महत्व देना उसे पसन्द नहीं था। उसका विचार था कि अच्छा बुरा जो भी खा लो, पेट में जाकर सब गल जाता है, पर पतलून की लकीर एक ऐसी चीज है जो दिखाई देती है, और इसलिये जब तक शहर में रहो, वह ठीक रहनी चाहिये।

सदानन्द को मुस्कराते देख कर मैथिलोन की टेढ़ी भृकुटि पिघल कर सीधी हो गई, और नासिकाओं पर काँपता हुआ क्रोध धुल गया। रूमाल से होंठ पोंछते हुए उसने मदिरता-पूर्वक पूछा, 'उसका नाम क्या है?

'किस का नाम?' सदानन्द ने आश्चर्य के साथ पूछा।

'उसका जिसकी याद में तुम मुस्करा रहे हो?'

सदानन्द और भी मुस्कराया। उसने हाथ से पत्थर मारने की मुद्रा बनाकर कहा, 'तू यहूदी!'

और मेथिलोन ने तुरन्त गम्भीर हो कर माथे पर बल डाल लिये, और कुरसी से टेक लगा कर बोला, 'मेरे साथ मजाक मत करो। मेरी तबीयत ठीक नहीं है।'

२३ नवम्बर ४१ की रात के नौ बजे थे। मिस्र स्थित भारतीय सेना के ये दोनों सैनिक सन्ध्या से काहिरा की हवा में मनोरंजन के उद्देश्य से निकले थे। सड़कों पर तमाशबीनी के बाद 'मेट्रो' सिनेमा में ग्रेटा गार्बो की पिक्चर देख कर अब लौटते हुए वे उस सस्ते ढाबे में खाना खाने के लिये रुके थे जिसके बाहर एक चाँद और तीन सितारे जगमगा रहे थे, और जिसके अन्दर बीस-तीस पियास्ता देकर उन्हें चार-चार कोर्स खाने को मिल गये थे।

'मिस्र भी देख लिया।' मेथिलोन ने विरक्ति के साथ चारों ओर देख कर कहा, 'जहां भी चले जाओ, वही गन्दगी, वही कसैलापन और वही एकतारता।'

'तुमसे कोई क्या कहे?' सदानन्द ने जूते का फीता कसते हुए कहा, 'तुम्हें तो यहाँ के पिरामिडों में भी विशेषता नजर नहीं आई।'

'नाम मत लो।' मेथिलोन तीखा होकर बोला, 'मिस्र के पिरामिड और हिन्दुस्तान का ताजमहल! इन से धरती का कितना भाग घिरता है? मेरी आँखें धरती के चप्पे-चप्पे को देखती हैं, और जानते हो मुझे क्या नजर आता है? मुझे नजर आती है एक भीड़, और उस भीड़ में मुझे नजर आते हैं ठग, गुण्डे, वेश्याएँ।'

'मैं बताऊँ तुम्हें क्या नजर आता है?' सदानन्द ने मधुरता के साथ कहा।

'तुम्हें नजर आती है रेत के पहाड़ों पर फिसलती हुई चाँदनी। यह मौत को दिल से भुला रखने का एक अच्छा बहाना है।'

मौत के नाम से सदानन्द का अन्तःकरण काँप उठा। मौत! दनदनाती गोलियाँ और आग उगलते हुए टैंक! एक-एक इंच धरती जीतने के लिये लोहे के पिशाचों का नाच।

उसने अपना उंगली में लोहे के छल्ले को छुआ। एक लहीर निकल-कर हृदय तक चली गई। माधवी के माथ का स्पर्श ताजा हो आया। कितनी ही रेत, कितने ही पहाड़, कई नदियाँ, कई खेत, कई नजारे, ओ कई बोलियाँ लाँघ कर एक छोटा-सा गाँव—जहाँ आज भी गहरी नींद में दो आँखें उस दिशा की ओर देखती होंगी, जिधर से उसके लौटने की संभावना है। और वह पिघले सोने जैसा माधवी का यौवन

उसकी जाँघ का घाव दुखने लगा। अभी पिछले छौ महीने उस पर गोली लगी थी। गोली एक फुट के अन्तर से आती तो उसकी छाती में लगती। उसका अर्थ होता मौत। मौत क्यों ? धरती जीतने के लिये। धरती-जो सारी ताजमहल और पिरामिड नहीं, मिट्टी है। मिट्टी—जिसके नीचे हैं कीड़े, साप, छछूंदर। ऊपर हैं ठग, गुण्डे, वेश्याएँ।

सदानन्द की आखें मैथिलोन से मिलीं तो मैथिलोन के मुख पर हलकी झुरिंया खिलते हुए नाम में विलीन हो रही थीं। मैथिलोन ने कुहनिया मेज पर टिका कर पूछा, 'अच्छा बता तो दो, उसका नाम क्या है ?'

'किसका नाम ?' सदानन्द ने बिना अपने विचारों से बाहर निकले कहा।

'उसका जिसकी याद में तुम रोने जा रहे हो।'

'मैं अपनी पत्नी की बात सोच रहा हूँ।' सदानन्द ने भावुक होकर कहा, 'यह छल्ला उसने मुझे आते समय दिया था।'

कह कर उसने छल्ले वाली उंगली मैथिलोन की ओर बढ़ा दी। मैथिलोन ने छल्ले को उसकी उंगली में घुमाया और उठते हुए कहा, 'वण्डरफुल !'

सड़क पर आकर वे दोनो देर तक चुपचाप चलते रहे। हवा की शुष्क वीरानगी इधर-उधर से धूल सहेज रही थी। मैथिलोन बड़े-बड़े सनहालयों की सजावट देखता चला जा रहा था, पर सदानन्द एक ऐसी अनुभूति में खो रहा था जो इन्सान के लिये वातावरण को रसहीन

बना देती है, और अन्दर से उसकी आत्मा, 'यहा नहीं वहा, यहा नहीं वहा' की धुन छेड़ देती है।

चौराहे के पास आकर मेथिलोन ने कहा, 'आज की रात और कल की रात बीच में है। परसों हमारी टुकड़ियाँ सीमा पर भेज दी जाएँगी। उसके बाद फिर जाने काहिरा का यह फुटपाथ, यह खम्भा और ये इश्तिहार कभी देखने को मिलेंगे या नहीं। क्या कहते हो?

'मैं लड़ना नहीं चाहता।' सदानन्द के मन की विकलता एक वाक्य में आकर निकल आई।

'तो जहर खालो। जब तक जिन्दा हो, तब तक तुम लड़ने के लिये मजबूर हो। तुम्हारे चाहने-न-चाहने की पर्वाह यहाँ किसी को नहीं। तुम्हारी इंसानियत दूसरों ने खरीद रखी है। आ सको तो उनके काम आओ, नहीं तो नष्ट हो जाओ।' इतना कह कर मेथिलोन ने उसके कन्धे पर हाथ रखा और फिर कहा, 'हम दूसरों की लड़ाई लड़ रहे हैं दोस्त! इस लड़ाई में सिपाही की एक ही चीज अपनी है, और वह है वेतन के रुपये। उन्हें वह जिस तरह चाहे खर्च कर सकता है।' अचानक वह बोलता-बोलता रुक गया और दूर अँधेरी गली की ओर देखने लगा। कुछ देर तक एक टक देख कर वह धीरे से बोला, 'वह उस गली के बाहर एक वेश्या खड़ी है। बोलो, चलते हो?'

सदानन्द ने वहा इजिप्शियन पोशाक में एक चुस्त युवती को देखा जिसकी आखें मलमली घूँघट के पीछे चचल हो रही थीं।

'तुम कैसे जानते हो, वह वेश्या है?' उसने झिझक के साथ पूछा।

'मैं आँखें देखने के लिये और नाक सूँघने के लिये इस्तेमाल करता हूँ। बोलो, चलते हो?'

'नहीं।' सदानन्द ने कहा और उसके हाथ ने उंगली के छल्ले को छुआ। एक क्षण में उसे ढुलकते हुए आँसुओं, धड़कते हुए पत्रों और अधकहे वाक्यों का स्मरण हो आया। वह माधवी को कई-कई वचन और आश्वासन देकर आया था।

'परसों सीमा पर जाना है, पता है ?' मैथिलोन ने नेमे नरम स्वर
कहा।

'पता तो है ही।'

'फिर भी नहीं चलते ?'

'नहीं।'

'तुम वेसमझ हो।'

'नहीं मैं वेसमझ नहीं।'

'तो तुम नपुंसक हो।' कह कर मैथिलोन ने उसके मुरझाए हुए
चेहरे पर नजर डाली, और फिर उसे बच्चे की तरह थप-थपा कर कहा,
'अच्छा, जाओ, बैरक में जाकर सो रहो। मैं सवेरे परेड के मैदान में
मिलूँगा।'

और सीटी बजाता हुआ वह उसे छोड़ कर अँधेरी गली की ओर
चला गया।

× × ×

कुछ दिन बाद, जब रात आधी जा चुकी थी, और पूरा चाँद आकाश
में चमक रहा था, और ठण्डी हवा ठण्डी रेत के पहाड़ों को उड़ाकर इधर
से उधर बिखेर रही थी, सदानन्द और मैथिलोन अपनी टुकड़ियों के
साथ साथ रेत पर पेट के बल रेंगते हुए बढ़ रहे थे। तीन ओर से वे
घिरे हुए थे, और एक ही दिशा थी जिधर जाकर उनके बच रहने की
संभावना थी वे उसी दिशा में धीरे-धीरे सरक रहे थे।

पूरा सन्नाटा था। फिर भी रह-रह कर सदानन्द को आभास हो
रहा था कि जर्मन मशीनें अब गरजने ही वाली हैं। न-जाने कौनसा क्षण
आए, जब तीनों दिशाएँ एक साथ फट पड़ें। उस क्षण से जूझने के
लिये वह तैयार था, पर समय का यह खामोश अन्तर इतना बड़ा और
इतना ठण्डा था कि इसे सहन करना उसे असंभव लग रहा था। दूर
क्षितिज तक फैली हुई रेत थी। रेत के ऊपर फैली हुई चाँदनी थी।
चाँदनी में सैकड़ों छोटे-छोटे रेत के टीले जली हुई चिताओं की तरह

दिखाई दे रहे थे। इस समय वह यदि यहाँ मर जाए, और कोई उसे उठाये नहीं, और रेत उसे ढाँप ले, तो वह भी दूर से एक ऐसा ही टीला नजर आए। इतना ही ठण्डा, एकान्त और डरावना!

और टुकड़ियाँ टीलों के बीच से सरकती हुई बढ़ रही थीं। सिपाही जानते थे कि वे जितनी दूर जा सकें, जिन्दगी के उतने ही नजदीक रहेंगे। इसलिये वे आगे, आगे, और आगे सरकते जा रहे थे, कि अचानक—

चिटचिटाचिटचिट चिटाख चिटचिटाख चिटचिटचिट चिटाख पीछे दायें और बायें से गोलियाँ बरसने लगीं। सरकते हुए सैनिकों की टुकड़ियों ने रुख बदल लिये, और अपनी रायफलों के घोड़े दबा दिये। सदानन्द वातावरण को भूलकर अँधाधुँध गोलियाँ चलाने लगा। जिन्दगी कुछ देर के लिये चिटचिटचिटाख की ध्वनियाँ सुनने और पैदा करने में ही सीमित हो गई। कौन गिरा, मरा, कराहा या घायल होकर तड़पा, यह जानने का अवकाश नहीं था। एक गोली सदानन्द के कंधे को छील गई। वह अपना घाव देखने के लिये भी नहीं रुक सका। वह अभी ध्वनियाँ पैदा कर सकता था, इसलिये वह ध्वनियाँ पैदा करता गया। चिटचिटचिटाख चिटचिटचिट चिटाख।

एक बाँह ने उसके कंधे को छुआ। घाव दुख गया। सदानन्द ने तड़प कर देखा। मैथिलोन था। मैथिलोन बुरी तरह धरती पर रेंग रहा था। अपने पीछे वह रेत पर गाढ़े लहू की मोटी लकीर छोड़ता आ रहा था। उसकी वर्दी के सीने पर लहू का बड़ा-सा दाग बन रहा था, जो धीरे-धीरे और बड़ा होता जा रहा था। उसे इस अवस्था में पहचान कर सदानन्द का हाथ रुक गया। वह मैथिलोन के शरीर पर झुका। झुकने पर उसके अपने कंधे का लहू मैथिलोन के होठों और गालों पर गिरने लगा। सदानन्द पीछे हट गया। मैथिलोन का चेहरा गूँधे हुए आटे-जैसा हो रहा था। उसने सदानन्द को देखकर कुछ बोलने की चेष्टा की पर उसके होंठ नहीं खुल सके। कठिनता से उसने अपना हाथ उठाया, और अपनी जेब की ओर संकेत किया। फिर उठा हुआ हाथ

लहू के दाग से सच करके रह गया। मैथिलोन के प्राण निकल गये।

तीन तरफ से गोलियाँ आ रही थीं। सदानन्द ने उलटा-पलटा। मैथिलोन की वह जेब देखी जिसकी ओर उसने संकेत किया था। उसमें उसे एक कागज और एक छोटी-सी डिबिया मिली। ये दोनों चीजें उसने अपने पास रख लीं। फिर उसने अपनी रायफल उठाई और लगातार कई ध्वनियाँ पैदा कर दीं। और जब उसकी गोलियाँ समाप्त हो गई, तब उसे ज्ञात हुआ कि अपनी टुकड़ी में वही एक था जो अब तक गोलियाँ चला रहा था। इस समय वह एक ऊँचे टीले के पास था। आस पास बहुत से मृत शरीर पड़े थे। सामने दूर तक रेत के टीले थे। उनपर उसी तरह चाँदनी बिखरी थी। सदानन्द सरक कर घटे टीले की ओट में आ गया। वहाँ उसने अपनी रायफल फेंक दी, और उठकर दौड़ने लगा। गोलियों की आवाज़ें आ रही थीं उसके पैर पूरे पूरे रेत में धँस रहे थे। दिशा का या रास्ते का उसे पता नहीं था। वह भाग रहा था, क्योंकि उस समय भागना ही उद्देश्य था। वह मौत की बोलती हुई ध्वनियों से जितना दूर हो सके, उतना दूर निकल जाना चाहता था। इसलिये वह भागता ही गया, भागता ही गया, और जब वह बुरी तरह से थक गया, उसकी पिंडलियाँ ऐंठने लगीं और घुटने बैठने लगे, उसके बाद भी वह निरन्तर भागता ही रहा।

× × ×

रात बीत गई और सवेरा हुआ सवेरे के बाद दोपहर हुई। दोपहर की गरमी से जब रेत की छाती जलने लगी, उस समय सदानन्द की नीम बेहोश आँखें खुलीं। उसने चारों ओर देखा। वह था, धरती थी और आकाश था। रेत के टीले उस समय भी वैसे ही थे, जैसे उसने रात को चाँदनी में देखे थे। पर इस समय वे जली हुई चिताओं जैसे नहीं, सुलगते हुए भट्टों जैसे दिखाई दे रहे थे।

सदानन्द उठ कर बैठ गया। चिलचिलाती धूप थी। धरती और आकाश का हर परमाणु गरम था। उसका अपना शरीर अन्दर और बाहर से तप रहा था। उसका गला बिल्कुल सूख गया था। पानी की बोतल निकाल कर उसने दो-चार घूँट पिये। इतने से अन्दर का उत्ताप शांत नहीं हुआ। उसने गटागट आधी बोतल पी डाली। फिर धूप को देखा। आकाश को देखा। आगे और पीछे देखा। एक अन्त से दूसरे अन्त तक रेत। कहीं और कुछ नहीं। रेत।

उसे अपना गाँव याद आया। कहाँ है वह गाँव? इस धरती के किस कोने में है? क्या वह धरती और यह धरती एक ही है?

सहसा उसे मैथिलोन का गूँधे हुए आटे जैसा चेहरा याद आया। मैथिलोन रात को मर गया। हो सकता था वह भी रात को मर जाता। पर वह नहीं मरा। वह भाग आया और बच गया।

उसने मैथिलोन की डिबिया निकाली। उसमें दो हीरे जड़ी अँगूठियाँ थीं। वह देर तक उन्हें देखता रहा। अँगूठियाँ धूप में बहुत चमकदार लगती थीं। फिर उसने मैथिलोन का तह किया हुआ कागज़ खोला। वह एक पत्र था जिस पर छः महीने पहले की तिथि थी और जो मैथिलोन ने अपनी बहन के नाम लिखा था।

'मैं नहीं जानता कि कब किस घड़ी मेरी मौत हो जायगी।

इसलिये यह पत्र मैं आज ही लिख कर अपने पास रख रहा हूँ। मुझे मौत की आशंका हर समय है, यद्यपि मैं नहीं जानता कि मेरी मौत किस उद्देश्य से होगी। मैं जिनसे लड़ता हूँ, वे क्यों मेरे दुश्मन हैं, यह मैं नहीं जानता। मैं लड़ता हूँ क्योंकि मुझे लड़ने का वेतन मिलता है। वे लड़ते हैं क्योंकि उन्हें लड़ने का वेतन मिलता है। सिपाही से कमाण्डर तक हर एक को वेतन मिलता है। काउंसिल में मिनिस्टर और प्राइम मिनिस्टर को वेतन मिलता है। सम्राट् और उसके परिवार को वेतन मिलता है। इतने वेतनों के पीछे कोई लड़ाने वाली शक्ति है। मैं उसे नष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि मुझे हर महीने

इन की जरूरत पड़ती है। मैं वेतन पाने के लिये उन्हीं पर गोलियां चलाता हूँ, जो मेरी तरह वेतन लेते हैं, और गोलियाँ चलाते हैं। मेरी गोलियों ने कइयों की जानें ली हैं। किसीकी गोली एक दिन मेरी जान ले लेगी। फिर मैं तुम से नहीं मिल सकूँगा। इसलिये ये दो अँगूठियाँ तुम्हारे लिये ला रखी हैं। ये भी वेतन से खरीदी हैं। मेरा कोई मित्र इन्हें तुम तक पहुँचा देगा। इन्हें मेरी निशानी और मेरी याद के रूप में अपने पास रख छोड़ना।'

सदानन्द ने फिर अँगूठियों को देखा। अब के उसने लक्षित किया कि दोनों अँगूठियों के हीरे कुछ इस तरह जड़े हुए हैं कि उन्हें पास-पास रखने से एक शब्द बन सके—विदा।

उसने अँगूठियाँ बन्द करके रख लीं, और एक ठण्डी साँस ली। काश, कि वह आज ही हिन्दुस्तान जा सके, और ये अँगूठियाँ मैथिलोन की बहन के हाथ में दे सके।

विदा! विदा! अब मैथिलोन मुँह से विदा कहने नहीं आएगा। उसे जान देनी पड़ी क्योंकि उसके प्राण बिके हुए थे। केवल ये अँगूठियाँ उसकी अपनी थीं। क्या मैथिलोन की बहन इन अँगूठियों के हीरों में अपने भाई की लाश को देख पायेगी?

बहलते दिल से सदानन्द ने सोचा जब वह हिन्दुस्तान जाएगा, तब वह माधवी के लिये भी दो ऐसी हीरे की अँगूठियाँ बनवाकर लेता जाएगा। माधवी को उसने कभी कोई उपहार नहीं दिया। अभी परसों पहली तारीख है। पहली तारीख को वेतन मिलेगा। उस दिन वह हल्का-सा छल्ला खरीदेगा और

रेत का एक बवण्डर पास से उठा, और वह सिर से पैर तक रेत में ऐसा घिर गया कि कई क्षण वह साँस भी नहीं ले सका। उस एक झोंके में उसका विश्वास डाँवाडोल हो गया। उसने सोचा परसों पहली तारीख है, पर पहली तारीख तक अपनी छावनी में पहुँच जायगा? यह रेत का तूफान उसे जाने देगा? यदि वह नहीं निकल सका, और

उसका दाना-पानी समाप्त हो गया, फिर ? क्या यह रूखी धरती उसे जीता छोड़ेगी ?

सदानन्द डर गया, और डर कर उठ खड़ा हुआ। पश्चिम को लक्ष्य में रखकर वह चलने लगा। काफी देर तक वह चलता रहा। जब धूप में सन्ध्या की छायाएं घुलने लगीं, तब उसने रुककर चारों ओर देखा। सब ओर धरती का फैलाव और अन्तर उतना ही था जितना उसने चलते समय देखा था। दूर सामने एक फैला हुआ टीला था जो उसकी राह में जिन्दगी और मौत की दीवार की तरह खड़ा था। उसने मन को समझाया कि टीले के पार ही छावनी होगी, और छावनी नहीं तो कोई आबादी होगी, और आबादी नहीं तो कोई झोंपड़ी होगी। वहाँ जाकर उसके प्राण बच जायेंगे। इसलिये वह टीले की ओर दौड़ने लगा। थोड़ी देर में चारों ओर चाँदनी फैल गई, वह इसी विश्वास के साथ दौड़ता रहा। उसे इतना ही धैर्य था कि रास्ता कट रहा है। पर बहुत दौड़ चुकने के बाद यह धैर्य भी टूटने लगा, क्योंकि टीला अब पहले से भी दूर चला गया था। फिर भी वह बहुत देर तक और बहुत दूर तक दौड़ा। पर टीला उसकी पहुँच में नहीं आया।

× × ×

कुछ रोज बाद काहिरा के मिलिट्री हस्पताल में एक हिन्दुस्तानी सिपाही की लाश पोस्टमार्टम के लिये आई, क्योंकि वह रेत में मरा हुआ पाया गया था और उसके शरीर पर गोली का कोई घातक निशान नहीं था। यह लाश सदानन्द की थी। चीर-फाड़ के बाद लाश जलवा दी गई।

पर जिस सिपाही ने उस लाश को पहले-पहल देखा था, उसे उसके हाथ में एक छोटी-सी डिबिया, और पेंसिल से लिखा हुआ कागज़ भी मिला था।

इस सिपाही का नाम महानन्द था। वह भी हिन्दुस्तानी फौज की एक टुकड़ी में था। कागज़ की लिखावट को पढ़कर उसकी आँखों में

हु आ गये थे और उसने अपने आप यह जिम्मेदारी अपने ऊपर ली थी कि उस डिबिया को, पता-ठिकाना पूछकर, वह मरे हुए साथी के घर भेज देगा। कागज उसी के नाम था जिसे वह मिल जाए, और उसमें सदानन्द ने लिखा था—

'मैं नहीं जानता था कि अब मेरे जीवन की कितनी घड़ियाँ शेष हैं। मैं चाहता हूँ कि मैं मरने से पहले एक बार अपने घर जा सकूँ, और एक बार माँ और माधवी के चेहरे देखकर पहचान सकूँ। मेरे नीचे ठण्डी जमीन है, और इस जमीन को मैं नहीं पहचानता। मेरे चारों ओर चाँदनी है, पर चाँदनी का यह रूप वह नहीं है, जो मेरे घर के आँगन में था। यह चाँदनी मौत की तरह डरावनी है। मैं यह चाँदनी नहीं चाहता। मैं मरना नहीं चाहता। पर मुझे लगता है मैं मर रहा हूँ। मुझे अभी वेतन लेकर पैसे घर भेजने हैं। मुझे हीरे की अँगूठिया माधवी को देनी हैं। मैं मर गया तो मुझे हर महीने वेतन नहीं मिलेगा। माधवी के पास कोई गहना नहीं जिसे वह बेच ले। मेरे पास दो हीरे की अँगूठिया हैं। मैं मैथिलीन से कह दूँगा। वह मेरी बात समझ जाएगा। पर मेरे घर अँगूठिया लेकर कौन जाएगा? मेरा घर बहुत दूर है। मेरा घर यहाँ से कई सौ कोस दूर है!

महानन्द का हृदय पढ़ते-पढ़ते इतना पिघला, कि वह उस पत्र को फिर दूसरी बार नहीं पढ़ सका।

धार महानन्द को दो दिन की छुट्टी मिली तो वह अपने एक साथी के साथ सन्ध्या को एक शहर में घूमने गया। वहाँ एक अँधेरी गली के पास एक सुन्दर इजिप्शियन युवती उसकी ओर मुस्कराई। महानन्द की जेब में उस समय पूरे महीने का वेतन था, इसलिये युवती से उसे रात भर के लिये प्रेम मिल गया।

जब वह प्रेम का मूल्य चुकाकर विदा होने लगा, तो युवती ने उसकी आँखों में आँखें डालकर, उससे कोई ऐसी निशानी माँगी जिससे वह उसे हमेशा के लिये याद रख सके।

महानन्द ने जेब से एक हीरे की अँगूठी निकालकर बड़े प्यार से उसे पहना दी। युवती ने पूरे स्नेह के साथ महानन्द के होठों को चूम लिया। महानन्द ने दूसरी अँगूठी निकाल कर उसके दूसरे हाथ में पहना दी।

(जनवरी, ४० जालन्धर)

ऊर्मिल जीवन

कल नीरा सात बरस की थी, आज वह सत्रह बरस की है। दस बरस का समय लहर की तरह उसे साथ बहा लाया। हवा ने पानी का रुख बदल दिया, समय ने जीवन का।

कितना परिवर्तन हो गया! जिस आग को छू कर भी हाथ नहीं जलता था, आज उसकी उष्णता का दूर से ही अनुभव होता है। नन्हीं टाँगें जिन परिधियों को लाँघ लेती थीं, आज उनके बाहर झाँकना भी सम्भव नहीं। जिस पानी के ऊपर तैरा करती थी, आज उसकी गहराइयों में डूबे रहना है। पहले वह नासमझ बालिका थी, आज समझदार नवयुवति है। जीवन यही है। व्यंग्य भी यही है।

उसकी चंचलता गंभीरता में बदल गई। उसकी मुखरता ने खामोश रहना सीख लिया है। सोचने लगती है तो वर्तमान से बहुत पीछे रह जाती है। वहाँ से लौटे तो बहुत आगे निकल जाती है। वर्तमान के केंद्र पर विचारधारा औंध होकर घूमती है।

नीरा ने अपने को देखा। शारीरिक विकास उसके और नन्ही नीरा के अस्तित्व में एक युग का अन्तर बतलाता है। तब चाहती थी जल्दी-जल्दी बड़ी होना। आज चाहती है पहले की तरह बालिका बन जाना। शैशव की चाह पूरी हो चुकी। आज की चाह कभी पूरी नहीं होने की। वह यह सब समझती है, फिर भी विचार वश से बाहर हो कर चलते हैं।

नीरा कमरे में टहलने लगी। उसे अनुभव हो रहा था कि सारा वातावरण ही विषैला हो गया है। एक-एक चीज़ में तर्जना है। सजावट का सामान सूनेपन की विडंबना को महत्त्व देता है। वह कमरे में अकेली थी। अकेलापन धीरे-धीरे विश्वमय होता जा रहा था।

कल रात को उसका विवाह हुआ था। वह यामिनी, जो जीवन की मधुरतम कल्पना थी, एक विभीषिका बन कर छाई रही। मिलन-यामिनी आज होगी। इस समय सन्ध्या है। सन्ध्या के बाद तारे निकलेंगे। फिर हो जाएगी रात।

उसे लगा जीवन तत्त्व निःशेष हो रहा है। आज की रात जीवन में घातक कटुता घोल देगी। संभव हो तो रात-दिन के मनकों से बनी जीवन माला का यह काला मनका तोड़ कर फेंक दे। जानती है एक मनका तोड़ने से माला ही टूट जाएगी। उसमें इतना साहस नहीं है...

पलंग पर बैठ कर नीरा ने चारों ओर देखा। दस बरस में आँखें इस घर की दीवारों से परिचित हो गई हैं। रंग कई बार बदले गए। पलंग से चादरें उतरती रहीं। उसकी आशा जीजी घर की रानी थीं। एक महीने पहले जीजी ने भी आँखें मूँद लीं। और उनके स्थान पर आज वह स्वयं...

देह काँप उठी। दस बरस पहले एक अपरिचित व्यक्ति को जीजा के रूप में देखा था। आज से उसी को पति के रूप में पहचानना है। और जीजा का वह प्यार भरा सम्बोधन, "नीरो रानी!"

'नीरो रानी' का आज से तात्पर्य बदल जायेगा। नया अर्थ होगा और नई ही व्याख्या होगी। उसके साथ साथ...

हृदय भारी होता गया। विवाह हो चुका। आग की साक्षी में वाग्दान करके माँ ने आँसू पोंछ लिए। घर का नीम जला तो उसकी राख में नया अंकुर रोप दिया गया। पानी के कुछ छींटों से राख सदा के लिए दब गई।

बाहर आकाश फैला है। शून्य ! शून्य पर अन्तर्वेदना की छाप नहीं पड़ती। शैशव के चित्र कहीं इस आकाश में अंकित होते, तो उन पर काली तूलिका ने दाग कर देती।

चर्र-मर्र बैलगाड़ी सड़क पर चल रही थी। नीरा को बहुत पुरानी बात याद आई। पिता ने कभी कहा था, "जीवन एक बैलगाड़ी है। एक हिचकोले से इधर उधर हिल जाते हैं। एक कील टूट जाए, तो पहिए निकल जाते हैं।" तब केवल सुना था। आज ठीक समझ रही है। पिता की मृत्यु हुई। कील टूट गई। पहिए निकल गए। गाड़ी बैठ गई।

नन्हीं कृष्णा ने उसका दोपट्टा खींचा। नीरा एकदम सचेत हुई। पल भर कृष्णा की भोली आँखों को देखा। गोदी में लेकर मुँह निहारा। बालों को सहलाया। फिर गोदी से उतार दिया।

कल तक वह कृष्णा की मौसी थी। आज से उसकी सौतेली माँ।

"मौसी," कृष्णा ने कहा," तू माँ को ले कर क्यों नहीं आई ?"

नीरा मन-ही-मन रो दी। कृष्णा आज भी अपनी माँ की प्रतीक्षा करती है। क्या वह उसे कभी माँ के रूप में स्वीकार करेगी ? 'नीरो रानी' का अर्थ बदल सकता है, पर कृष्णा का कोश बहुत छोटा है। वह अपने शब्दों का एक ही अर्थ जानती है। वह उसे कहती है, 'मौसी।'

कृष्णा के लिए वह मौसी ही रहेगी। उसका शैशव जानता है कालापानी और लहू का विवेक।

बच्ची के प्रश्न का उत्तर न देकर नीरा ने कहा, "उधर जाकर खेल, मुन्नी ! मीरा वहाँ अकेली होगी।"

"नहीं, मौसी, पहले बता माँ कल भी आएगी कि नहीं ?"

नीरा ने उसे अपने साथ सटा लिया। स्वर को सहेज कर कहा,

"तू मीरा को जिस दिन नहीं मारेगी, उसी दिन आएगी, अच्छा ! जा, मीरा के साथ खेल बाहर।"

कृष्णा सतुष्ट हो गई। नीरा के गले में बाँहें डाल कर नाचने लगी फिर उसे छोड़ कर भाग गई।

नीरा ने सामने देखा। आँखें दीवार पर लगे हुए चित्र पर अटक गईं। कसाई मरी हुई बकरी को भून रहा है। हरी घास के पास बँधी हुई दूसरी बकरी घास में मुँह मार रही है। कसाई देख रहा है। घास की ओट में वह छुरी है जिसपर अब भी लहू के दाग हैं।

नीरा ने तुलना की। आँखों के आगे श्मशान का वह दृश्य आया जब आशा जीजी की चिता से चिनगारियाँ निकली थीं। चिनगारियों की ओट में कितनी रोई वह ! कितने सिसके उसके जीजा !

और महीने भर बाद ?

वैसी ही आग के चारों ओर जीजा ने उसके साथ फेरे लिए। उसे लगा जैसे बहन की चिता के चारों ओर घूम रही हो। चटकती हुई चिनगारियाँ और वेदमन्त्र—दोनों एक से ही थे। विवाह हो गया। बिना सजधज और चहलपहल के। समय के संकेत ने सौभाग्यवती बना दिया। लाल चूड़ियाँ और लाल सिंदूर .

नीरा ने फिर-से देखा। छुरी पर लहू अब भी गीला सा लगता था। कसाई, आग, बकरी और घास। यह एक परंपरा है। वह भी इसी परंपरा को निबाह रही है।

उसने आँखें मूँदने की चेष्टा की। मन का भारीपन धीरे-धीरे पलकों पर फैल गया।

नन्हीं नन्हीं नीरा ! छोटा-सा घर। माता और पिता। असाधारण-सी चहल-पहल। बाजे, बरात और जीजी का विवाह। किनारीदार कपड़े पहन कर जीजी कैसी बदल गई ! मिठाइयाँ और बताशे। केले के खंभे, रोली और हवन कुंड। सेहरा बाँधे एक अपरिचित व्यक्ति।

कितनी सहज आत्मीयता ! माँ ने कहा, "नीरो, तेरे जीजा, जा जीजा के पास।"

जीजा ने बाँहें फैलाईं। कहा, "आ, नीरो रानी, तुझे खिलौने देंगे, मेले ले जाएँगे।"

नीरा पास नहीं गई। दूर भाग गई।

रोती हुई जीजी डाले में बैठी। माँ ने कच्ची लस्सी में पैर डाले। लौटकर आई जीजी, कैसी अद्भुत-सी ! गुड़िया जैसे लाल होंठ, कपड़े झाँकियों की रीता जैसे। नीरा हँसी। तालियाँ पीटीं।

फिर वही अपरिचित व्यक्ति—जीजा। माँ ने कहा, "पूछ, दूध कब पीएँगे ?"

नीरा पास गई, सिमटी-सी, सकुचित। जीजा ने पकड़ लिया दोनों बाहों में। पास खींचा।

मोटे-मोटे होंठ, नाक के लम्बे बाल और विचित्र-सी गंध। हिचकिचाई, पीछे हटी, फिर लगा दिया गाल पर थप्पड़।

चौंककर नीरा ने आँखें खोलीं। वही शून्य आकाश। दूर-दूर तक कालिमा में ओझल होते हुए सृष्टि के चित्र। शैशव कहाँ है, कहाँ है शैशव ? पीछे, बहुत पीछे। बीच में ज़िंदगी की दीवार है।

झींगुर बोलने लगे। अभी रात होने वाली है। गोधूलि के गहरे रहस्यमय पृष्टपट पर वह एक तारा झिलमिलाने लगा।

नीरा की आँखों से दो आँसू टपक पड़े। उसने झट-से आँखों को पोंछ लिया। यह कैसा अपशकुन ? आज तो सुहागरात है। पहले इसी कमरे में जीजी की सुहागरात हुई थी, और वह साथ का कमरा ? उस कमरे में जीजी के प्राण निकले। वहाँ का वातावरण अब भी कराह रहा है। अव्यक्त और मध्यम-सा स्वर"—नीरा ! ओ माँ।"

विचारों को उसने झटक दिया। उठकर फिर टहलने लगी। फूलदान के फूल ठीक किए। शृंगार मेज़ के पास जाकर शीशे में चेहरा देखा बाँहों में माँसलता है। गालों पर गुलाबीपन।

जीजी के गाल पिचक गये थे। बाँहें कैसी हो गई थीं, सूखकर पतली हड्डियों जैसी! रूखे से मुख में दाँत कैसे लगते थे! बड़ी-बड़ी आँखें कैसी डरावनी थीं, और वह उस देखकर अन्तिम दिन भी कहती रही, "नीरा तेरा विवाह तो देख लेती। बाबूजी की तरह मैं भी तेरे विवाह से पहले ही ... "

आज उसकी आत्मा देख रही होगी। आकाश के अणु-अणु में फैलकर अनुभव कर रही होगी। कितनी साध थी जीजी को।

नीरा की अंतरात्मा चीख उठी। "देखो, जीजी, देखो। तुम्हारी नीरा का विवाह हो गया। आज उसकी सुहागरात है। देखो .. "

उस पर शिथिलता छा गई। निढाल-सी नीरा पलंग पर बैठी। फिर लेट गई। छत की कड़ियों में मकड़ी का जाला था। जाला धीरे-धीरे फैलने लगा। फैलकर इतना बड़ा हो गया कि नीरा उसमें उलझ गई। अवसन्न और निश्चेष्ट, पर घृणामयी।

पृथ्वी की धुंधली रेखाएं आकाश की कालिमा में खो गई। तारे निकल आए। रात हो गई।

गरम साँस के स्पर्श ने नीरा की पलकों को खोल दिया। दो उत्सुक होंठ उसके होठों के बहुत निकट आ रहे थे। नीरा सहमी और सिमटने लगी। दो हाथों ने उसकी बाँहों को पकड़ लिया। बाहर अंधकार था। मन में लगा आकाश ने भी आँखें मूंद ली हैं। वह भी देखना नहीं चाहता।

दो मोटे-मोटे होंठ, नाक के लम्बे बाल, और विचित्र सी गन्ध! निकट, और निकट आँखों के दो गहरे गड्ढे। नीरा हिचकिचाई। चाहा बाँहें झटक दे, जोर से तमाचा लगाए, जिससे सारा वातावरण झन्ना उठे।

पर हाथ उठ नहीं सका। आज वह नासमझ बालिका नहीं, समझदार नवयुवती है।

(नवम्बर, ४८ बम्बई)

कंबल

कल रात पिछले पहर कितना ठंड हो गई थी, आज तो दिन भर बूंदा बाँदी भी होती रही। शरीर में कँपकँपी उठती है। गंगादेई ने अधमैले धिसे जंपर की सीवनों का छोटे से आँचल के पल्ले से ढाँक लिया। सिर ढाँकने की चेष्टा में आँचल सरक गया। बाँहों को उसने समेट लिया। फिर पुकारा "बनारसी!"

लकड़ियों को फूंकती हुई बनारसी उसकी आवाज़ सुनकर भी नहीं बोली। जतलाया कि उत्तर देने का अवकाश नहीं। मन में उत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी। कहाँ तक सिर को ढाँक कर रखे? कितनी बार सलवार को एड़ियों तक खींचे? माँ दुहाई देती हैं ठंड लगने की ओर संकेत करती हैं लोगों की नज़रों की ओर। क्या करे जो लोग उसे देखते हैं? घर के चौके में जंपर और पेटीकोट से काम नहीं करती थी? वहाँ माँ बात-बात पर पुकार उठती है, 'बनारसी!'

घर पीछे छूट गया। कैंप में आये चार महीने हो चले। पहले दिनों में माँ ने काम भी नहीं करने दिया। कई दिन नहा भी नहीं पाई। लोटा भर पानी से कुल्ला भी कर लेती, मुँह-हाथ भी धो लेती। एक दिन चिढ़ कर वह सिर से पैर तक नहा आई और गीले बाल बिखेर कर घूमती रही। पास कहीं कोई दिन भर सीटी बजाता रहा। माँ ने उधर बाँस के साथ फटे हुए टाट का परदा लटका दिया।

तीन घरों की परिधियाँ, जिन के बीच एक भी दीवार नहीं। फिर भी सब का एक-एक घर अपना है। तामचीनी के बर्तन, टीन के

पीपे, चारपाइयों के पाए, नये पुराने जूते, टूटे बकस, चूल्हे, चौकियाँ, ईंटें और जाने किन-किन वस्तुओं के घेरे में हर परिवार ने अपने को दूसरों से अलग कर लिया है। अपनी परिधियों का उल्लघन किसी को सहन नहीं जब बनारसी लापरवाही से चलती हुई किसी दूसरे परिवार की परिधियों को छू लेती है, तब गंगादेई तीन बरस के राजू को स्तन देकर बहलाने की वृथा चेष्टा को भूल कर मसली-सी कह उठती "बनारसी !"

कल रात बहुत ठंढ थी। गंगादेई राजू को अपने साथ सटा कर सो गई थी। बनारसी की ठिठुरन में ईर्षा की सिहरन और भरी जा रही थी। क्यों नहीं माँ राजू को बापू के साथ सुलाती ? बापू शीत से काँपता है, खाँसता है। राजू बापू के पास सोए, तो बापू को थोड़ा आराम मिले।

फिर उसे अपने विचार दूषित लगने लगे। माँ राजू को साथ सुलाती है, तो रात को दूध पिलाने .. नहीं, दूध तो बहाना है। बूँद तो उतरती नहीं दूध की।

टपटप टपटप पानी ज़ोर से बरसने लगा। साँय-साँय करते हुए हवा के झोंके आए। तीस परिवारों का घर झूल गया। एक ओर बाँस निकला। लोग मिल कर उसे ठीक करने लगे। चाकू से आलू छीलती हुई बनारसी भी देखने आ गई। आँखें देख रही थीं। कान सुन रहे थे—पास ही कहीं सीटी की आवाज़। लौटने लगी तो किसी के कंधे से छू गई। गंगादेई ने घूर कर देखा। इस दृष्टि को उसने महत्त्व नहीं दिया। घेरे में लौट कर तत्परता से आलू छीलने लगी।

वर्षा तेज़ हो रही थी। बिजली पैनी हो कर कौंदती थी। बनारसी की आँखें बरबस उस घेरे की ओर उठ जातीं, जिसमें कल से नए परिवार ने अपने लिये नई परिधियाँ बाँध ली थीं। दो व्यक्तियों का परिवार था। युवक परसों तक छोर वाले बड़े परिवार में था। युवति घेरे वाली बुढ़िया के साथ थी। कल बुढ़िया युवक की माँ के पास

घडी भर बैठी। फिर पडित को बैठाया, पाँच पैसे रखे और बेटी का वाग्दान कर दिया। प्रात: दोनों परिवारों की सापत्तिक दीवारें तोड कर नए घेरे की सृष्टि कर दी गई। नवदपति का विवाहित जीवन आरम्भ हो गया।

बनारसी की आँखें बार-बार देखतीं। नव विवाहिता लडकी की आँखों मे उत्सुकता नहीं, लज्जा नहीं, सकोच नहीं। युवक भी अनमना सा कभी बड़े घेरे में चला जाता है, कभी अपने घेरे में आ जाता है। एक बार उसने पास जाकर पूछा, "पानी पिओगी ?"

पत्नी ने कहा, "नहीं।"

"कहो तो चाय ले जाऊँ ?"

"नहीं।"

"बाहर आलू की टिकियाँ भी हैं।"

"नहीं।"

फिर उसने जेब से मूँगफली निकाल कर उसके आगे कर दी। पत्नी ने एक दाना उठा कर मुँह में रख लिया। युवक बाहर आकर टहलने लगा। पुन: धीरे-धीरे जाकर बकस पर बैठ गया। सब मूँगफली निकाल कर कागज़ पर डाल दी। बोला, "आज बरसात न होती, तो घूमने चलते।"

"हाँ।"

"तूने किला देखा है ?"

"हाँ।"

"मै अब किले के पास ही तरकारी बेचा करूँगा।"

"हूँ।"

"लगता है रात को बडी ठंड पड़ेगी।"

"हूँ।"

युवक फिर उठा। कहा, "कल तुझे घाट पर ले चलूँगा। वहाँ पर बडे लोग सैर करने आते हैं।"

आलू छीलते बनारसी का हाथ कट गया। गंगादेई झुँझला उठी, "हाए री, क्या करूँ मैं तुझको! उठने बैठने की तो बात ही गई, तुझे अपने शरीर का भी होश नहीं!"

बनारसी झल्लाई, "और क्या करना है मुझको? गला घोट दे मेरा। माँ जो है तू" और वह रो पड़ी—रोने का-सा अभिनय किया। जैसे दिखलाया माँ की अवहेलना कर लेना कितना आसान है! माँ को चुप करा देना कितना साधारण है!

आलू धोकर वह आटे में पानी मिलाने लगी। गंगादेई अपनी खीझ को समेट नहीं पाई थी। पति की ओर देख कर बोली, "देखते हो न इसके लच्छन!"

रामसरन ने सुन लिया। वह बाप है। कभी उसे अपने उत्तर-दायित्व का पूरा ज्ञान था। अधिकार का पूरा दावा था। बच्चों को पीट कर बपौती का कर्त्तव्य उसने वर्षों तक निबाहा। पर आज खाँसते-खाँसते देह दोहरी होने लगती है। ज़रा-सी कँपकँपी पसलियों में चुभन बन कर दौड़ती है। अब उसके कर्त्तव्य अपने तक ही सीमित हैं। गंगादेई और बनारसी से जब सहायता मिलती है, वह आपे से बाहर नहीं होता। माँ बेटी के ऊपर पहरेदार के से स्वत्व की बागडोर उसने अनजाने में या जानबूझ कर ढीली हो जाने दी है। जानता है कि ढहते घर की ईंटों पर गारे का लेप नहीं चलेगा।

बड़ा बेटा रामू मुसलमानों की भीड़ पर पत्थर फेंकते-फेंकते पुलीस की गोली द्वारा मारा गया। शव को पुलीस की लॉरी में श्मशान तक ले जाकर वह अकेला ही जला आया। माँ बेटी ने घर में रो लिया। सांसारिकता पूरी हो गई। तब से आज तक वह सब कुछ देख लेता है, सुधारता कुछ भी नहीं। सोचता है—यों ही सही इतना ही सही।

गंगादेई ने उससे कहा, "देखते हो न इसके लच्छन!"

रामसरन ने आँख भर कर देखा। देखा बनारसी के आटे में सने हाथों को, हाथों की भरी हुई उँगलियों को, और उन उँगलियों के लाल-लाल नाखूनों को। फिर देखा उसके गुथे हुए शरीर के हिलते हुए अवयवों को। गंगादेई के खाली झोले से ढीले अंगों तक आकर उसकी दृष्टि ने फिसल जाने की चेष्टा भी की, पर फिसल नहीं सकी। धीरे से उसने इतना ही कहा, "अरी, क्यों कोसती है उसे? दिनभर तो तेरा काम करती है। बच्ची है अभी।"

रामसरन को अपनी बात पर स्वयं ही विश्वास नहीं आया। लगा उसने झूठ बोला है। बनारसी बच्ची नहीं है। वह तो उन दोनों से भी बड़ी है।

गंगादेई आहत-सी बोली, "बच्चियाँ इस तरह सामने बोला करती हैं? क्या और घरों में नहीं हैं बेटियाँ?

वाक्य में अर्थ नहीं था। रामसरन ने जाना—गंगादेई का अतीत वर्त्तमान के आगे आत्मसमर्पण नहीं कर रहा है। उसने बीत जाने दिया। कुछ इस तरह भी सही। आखिर तो हारना ही होगा।

शरीर की शिथिलता आज बढ़ती मालूम हुई। रामसरन ने कुहनियों का सहारा लिया। फिर सीधा होकर लेट गया।

दिन ढल चुका था। बादलों के नीचे सहमा हुआ आलोक भी अब अँधेरे में घुलता जा रहा था। कैंप का भावहीन जीवन धीरे-धीरे ऊँघने लगा था। अधिकतर लोग मौन थे। बात चलाने के लिये विषय चाहिये, कुतूहल चाहिये, विचार चाहिये। यहाँ तो जी लेना ही एक विषय है, उसी में कुतूहल है, और कुतूहल में ही विचारों का लोप। पीछे और आगे—दोनों ओर काला शून्य है।

सब ओर अंधकार ही अंधकार है। मद्धम-सी लालटेन कैंप के अँधेरे को धुंधला मात्र कर पाती है। मैले उजेले में टकराया हुआ मानवीय जीवन रेंगता है, रेंगते हुए दिखता और जाता है।

गगाटेंड क एक ओर रामसरन निश्चल पड गया था। दूसरी ओर बनारसी शलवार क़मीज़ के आवरण मे सिमटने की चेष्टा करने लगी।

आग के पास वह शीत की बात भूला रही थी। अब कैंप के बाहर बनते मिटते बुलबुलों को देख कर अनायास ही शीत की सिहरन महसूस हुई। घर की बात याद आई। अँगीठी के पास बैठकर जाली बुनना, रज़ाई में सिमट कर बातें करना, परन्तु अब यह नग्न निशा के कपन ..

आकाश का गीलापन बोल रहा था। कोई सीटी बजा रहा था। एक उत्सुक लय, जिसमें सगीत से अधिक शब्द था। फिर भी शब्द में सरसता लगती थी—मीठी-मीठी सजीवता, जैसे दूर ग्राम के बाग में आधी रात को रखवालों की आवाज़। बनारसी उस शब्द मे खो-सी गई। रामसरन खाँस उठा। हिलोरित जल मे कंकड आ पडे !

इसी तरह रात गहरी-सी हो चली। कोई करवट लेता था। कोई खाँस उठता था कोई सोता-सोता बोल रहा था, "मार दूँगा ! जान ले लूँगा ! खून पी लूँगा ! कौन है तू ? आ, सामने आ ! गोली मार! पंडितजी . पंडित जी . ."

बनारसी को नींद नहीं आई। वह सिहरती-सिहरती कुछ सोच रही थी। कुछ अनुभव कर रही थी। लोग कैसे सो जाते हैं। राजू माँ क साथ सट गया है। उधर उस घेरे मे युवक के साथ युवति। इनका व्याह हुआ ओह, कितनी ठड है !

बापू कैसा सिकुड रहा है ? नींद तो नहीं आई होगी। कितनी खाँसी हो गई है। पानी निरतर बरस रहा है। क्या वर्षा रुकेगी नहीं ?

हलकी-सी भनभनाहट सुनी। उसकी आँखे घूम गई। देखा एक गट्ठर में कंबल थे। कोई व्यक्ति सकेत कर रहा था। दूसरा उसकी बात समझ रहा था। फिर दोनों चार-चार कबल उठाकर उधर की ओर गए।

लिये। उन चरित्रों को ठोस और वास्तविक बनाने में विचार केन्द्रित हो गए।

लगा शरीर के अन्दर से भी उष्णता निकलती है। आलू, छीलने आटा गूंधने का जीवन कहीं नीचे है। वह ऊपर उठ रही है। देह और मन में विद्रोह नहीं। कामना उद्रेक में भूल रही है .

बापू अब खाँसना बन्द क्यों नहीं करता? खाँसी कितनी भद्दी है। शब्द कानों को छूता है—चुभती हुई रस्सी की तरह, जो मचान से लाकर धरातल पर ला गिराना चाहती हो।

वह एक मूर्त्त शब्द का निर्माण कर रही है। अस्पष्ट सी मीठी आवाज कानों के बहुत पास आकर बोलती है, और फिर कुहरे में विलीन हो जाती है। रोम-रोम में प्रतिध्वनियाँ होती हैं। एक-एक कँपन में वही स्वर बोलता है।

वह विचारों से भरती गई, और यों ही बहुत कुछ पाकर सो गई।

भरी हुई सरिता को बहते देखा। स्वप्निल विश्व में फैला हुआ उन्मादी जल, जिसके उन्माद को पा लेने के लिए वह विपथगा होकर उसमें फिसल गई। सहसा रोमांच नुकीले हो गए। वह जाग गई।

आधा कम्बल शरीर से खिंच गया था। निस्तब्ध निशा में वर्षा का तीव्र गुंजन फैल रहा था। बनारसी ने कम्बल को समेटने की चेष्टा की। झटके से कम्बल थोड़ा और भी हट गया। गंगादेई का स्वर नींद में भी कर्कश था, "डायन को अपने ही शरीर से मोह है। बच्चा पास पड़ा ठिठुर रहा है, उसे ढाँकने की चिंता नहीं। थोड़ा और छोड़ कंबल, बच्चे को भी दो घड़ी सोने दे।"

बनारसी ने आवेश में पूरा कम्बल फेंक दिया। कहा, "लेले कंबल। अपने ऊपर भी लेले। मुझे ठण्ड लगकर मौत नहीं आएगी।"

शीत चुभा। शरीर के रोम-रोम में धँस गया। अपनी पूंजी लुटा

पर नींद उचट गई तो ? कच्ची नींद में विघ्न डालना ठीक नहीं। अभी तो सोचा है। तड़के-तड़के तम्बाकू माँगा करता है। तभी उस पर कम्बल डाल देगी।

बोझिल आँखें अब खुल नहीं रही थीं। धीरे-धीरे झपकी गहरी हो गई।

तभी सीटी की आवाज सुनी। कौन सीटी बजाता है ? क्यों बजाता है ? फिर वही सीटी—स्पष्ट और तीखी। इस शब्द में क्यों इतनी शक्ति है ? परिवार की कमजोर परिधियाँ हिल जाती हैं। बनारसी ? कहाँ है बनारसी ? घेरे की सीमा में तो है नहीं। उठकर चली गई ? क्यों चली गई ? कहा चली गई ? अंधकार में अकेली नहीं।

गंगादेई कुनमुनाई। एक हाथ कम्बल से निकाल कर टटोलने लगी। बनारसी का शरीर नहीं छुआ। हाथ और बढ़ाया। स्पर्श नहीं हुआ। निंदयारी चेतना घबराई। आँखें खोल कर उसने कम्बल से बाहर देखा।

लालटेन की रोशनी और भी मध्यम हो गई थी। बनारसी अपने आप में सिमटी-सिकुड़ी सो रही थी। परिवार की परिधियाँ निश्चल थीं।

राजू छींकने लगा। आशङ्कित होकर गंगादेई ने कम्बल ओढ़ लिया। अभी तड़का होने वाला है। पति को बहुत ठण्ड लग रही होगी। खाँसना चाहे बन्द है, पर फिर भी। राजू पुन छींकने लगा। उसे लिपटाए रही। कम्बल बिखेरना संभव नहीं हुआ।

प्रत्यूष के साथ ओले पड़े। गंगादेई सोती-सोती बड़बड़ाई, चुड़ैल, मन में जरा भी मोह नहीं कि पास में बच्चा पड़ा है, उस पर भी एक कोना डाल दूं। मौत नहीं आती, तो पहले ही क्यों नहीं . ''

नींद फिर उचट गई। कम्बल उठा र उसने फिर देखा। अब के सचमुच बनारसी घेरे में नहीं थी।

पुतलियाँ फैलकर देखने लगीं। इस ओर देखा, फिर उस ओर। बनारसी दिखाई नहीं दी। सिर और ऊँचा करके देखा। कैंप के कोने के

पास से वह उछलते हुए ओले उठा रही थी। निद्रित स्वर में गंगादेई ने पुकारा, "बनारसी !"

बनारसी ने सुनकर भी नहीं सुना, देखकर भी नहीं देखा। अवज्ञा पूर्वक बाहर बरसात में चली गई।

राजू फिर छींकने लगा। गंगादेई ने कम्बल फिर ओढ़ लिया। बाँह निकालकर रामसरन को हिलाया। बोली, "जागते हो ?"

रामसरन जागता नहीं था। उसकी टाँगें अकड़ कर फैली हुई थीं। शरीर में सूजन उतर आई थी। मुँह अधखुला था। नेत्र भी अधखुले। वह मर चुका था।

गंगादेई ने निर्जीव शरीर को पुनः जगाना चाहा। हिलाकर कहा, "मैंने कहा, बनारसी को देखते हो ? बाहर अकेली चली गई है बरसात में। मैं कहती हूँ उठकर आप ही उसे बुलाओ। मेरी बात सुनते हो ?"

और जब दूसरी रात आई, तो राजू कम्बल में सो रहा था और माँ-बेटी एक दूसरी से लिपटी हुई सो रही थीं। नये कम्बल उस रात को फिर बाँटे गये। बाँटने वाले दया अधिकारियों को खोज-खोजकर कम्बल दे गये।

पर वे उनके घर में नहीं आये।

(फरवरी, ४८, बम्बई)